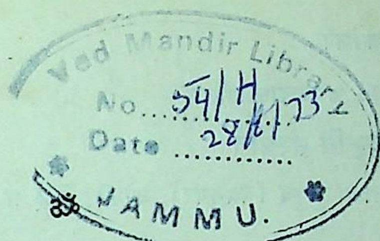
योग दर्शन



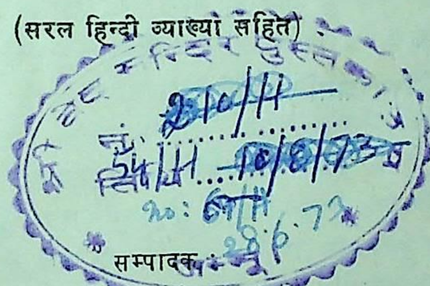
महर्षि पतञ्जलि



ॐ

योग-दर्शन

(सरल हिन्दी व्याख्या सहित)

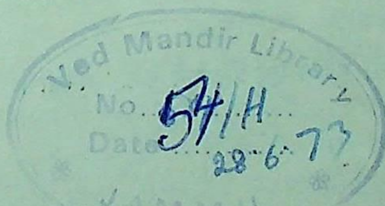


सम्पादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट् दर्शन,
२० स्मृतियों, और १८ पुराणों के
प्रसिद्ध भाष्यकार



प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, बरेली (उ० प्र०)

प्रकाशक :

डा० चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली, (उ० प्र०)।

*

सम्पादक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

चतुर्थ संस्करण
१९७१

*

मुद्रक :

मूना मुद्रण एवं प्रकाशन केन्द्र, बरेली।

*

मूल्य :

४) रुपये

भूमिका

मनुष्य-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य इस प्रकार के क्लेश, अतृप्ति, वासना आदि पर विजय प्राप्त करके सच्चे सुख-शान्ति आनन्द की उपलब्धि माना गया है। यद्यपि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सभी विवेकशील व्यक्ति अपनी-अपनी कृति, रुचि, बुद्धि के अनुसार तरह-तरह के साधनों का आश्रय लिया करते हैं, पर सबका मूल उद्देश्य एक ही होता है, इसमें कोई सन्देह या शंका नहीं करता। प्राचीन-ऋषि-महर्षियों ने इसके लिये जप, तप, उपासना, भक्ति, कर्मकाण्ड आदि अनेक मार्गों का विधान पात्रभेद के अनुसार किया है, पर इन सबको आत्मोत्थान की निचली सीढ़ियाँ ही माना गया है। इनसे मनुष्य सांसारिक जीवन में उन्नति करके सुख और सफलता पा सकता है, और देह त्याग के पश्चात् स्वर्ग प्राप्ति की आशा भी रख सकता है, पर सच्चा ज्ञान (प्रज्ञा) प्राप्त करके आत्मा के अंतिम लक्ष्य कैवल्य या मोक्ष के परमानन्द की प्राप्ति के लिये इनसे कहीं अधिक उच्च श्रेणी के साधनों की आवश्यकता होती है। योग-मार्ग ऐसे ही साधनों में से अन्यतम है। अन्य साधन मार्गों की अपेक्षा इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता यहहै कि जहाँ अन्य मार्ग केवल विचारात्मक अथवा कुछ सिद्धान्तों की विवेचना मात्र हैं, वहां 'योग-दर्शन' पूर्णतः क्रियात्मक है। इसकी सत्यता तथा यथार्थता का अनुभव प्रत्येक अभ्यासी स्वयं कर सकता है। समस्त भारतीय दर्शनों की आलोचना करते हुये एक भारतीय विद्वान ने इस सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाला है, उससे 'योग-दर्शन' की वास्तविकता पर ठीक प्रकाश पड़ता है—

"कुछ लोग योग का मुख्य स्वरूप 'उद्योग' (अभ्यास) समझते हैं, कुछ 'वियोग' (वैराग्य) बतलाते हैं, कुछ 'संयोग' (प्रणि धान) पर

जोर देते हैं, किन्तु वस्तुतः योग इन तीनों मार्गों का सम्मिलिन है जिनमें एक को भी छोड़ने से उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती।"

जब हम 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ पर ध्यान देते हैं तो इसके दो प्रधान अर्थ प्रतीत होते हैं। एक जीव और ईश्वर अथवा आत्मा और परमात्मा का सम्मिलिन अर्थात् अद्वैतानुभूति, और दूसरा वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा चित्तवृत्तियों की एकाग्रता जिसका परिणाम 'समाधि' अथवा अवस्था में पहुँचना (स्वरूप-प्रतिष्ठ होना) है। 'योगदर्शन' के भाष्यकार 'व्यास जी' ने योग का अर्थ समाधि ही बतलाया है, क्योंकि उसी अवस्था में पहुँच कर वृत्तियों के पूर्णतः निरोध और परमात्मा से तादात्म्य की स्थिति प्राप्त हो सकती है।

अथर्ववेद में एक मन्त्र है "अन्ति सन्तं न जहाति–अन्ति सन्त न पश्यति।" अर्थात् "पास बैठे हुये को छोड़ता नहीं और पास बैठे हुए को देखता नहीं।" इसका आशय यह है कि मनुष्य या जीव पास में बैठे एक साथी (प्रकृति) से चिपटा हुआ है—पर पास में बैठे अन्य साथी (परमात्मा) को देखता भी नहीं। सांख्य तथा योग-शास्त्रों में इन्हीं समस्याओं पर विचार किया गया है। सांख्य के मतानुसार हमारे जीवन के दुःखों का कारण यह है कि मनुष्य प्रकृति से अधिक संलग्न है, उससे छुटकारे का प्रयत्न नहीं करता और 'योग' की दृष्टि में कारण यह है कि मनुष्य परमात्मा को देखता नहीं, उससे संयोग नहीं करता। संसार में प्रकृति (भौतिक पदार्थों) में अनुचित आसक्ति रखने के कारण मनुष्य जिन दुःखों का अनुभव करता है और जिनसे छुटकारा पाने के लिए ही समस्त दर्शनों का उद्भव हुआ है, उनको योग दर्शन में पांच क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) कहा गया है और उनसे बचने का उपाय बताया गया है। इस दृष्टि से अगर हम किसी दर्शन को व्यावहारिक कह सकते हैं तो वह योग ही है। उसमें जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है, उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति का मार्ग भी बतलाया गया

है। इस विशेषता से आकर्षित होकर ही हमारे यहाँ योग-मार्ग को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है और सभी श्रेणियों के साधकों तथा सम्प्रदायों ने उसे किसी न किसी रूप में अपनाया है। उसके सम्बन्ध में एक लेखक का निम्न कथन सर्वथा यथार्थ है—

"योग के सैद्धान्तिक पक्ष के अतिरिक्त इसकी (पातंजल योग-दर्शन की) सबसे बड़ी विशेषता व्यावहारिक पक्ष की है। जहाँ अन्य दर्शन अपने वाक् जंजाल में फँसा कर ईश्वर की सत्ता का आभास मात्र देते हैं वहाँ योग दर्शन हमें ईश्वर प्राप्ति का क्रियात्मक मार्ग बतलाता है, यह केवल ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग ही नहीं बतलाता, बल्कि आसन यम, नियम और ध्यान की विधियों को बतला कर हमारे शरीर को बली, मन को पवित्र तथा चित्त को एकाग्र बनाता है। यदि संसार में शरीर तथा मस्तिष्क दोनों को स्वस्थ बनाने वाला और साथ ही मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला कोई दर्शन है, तो वह योग-दर्शन ही है।"

पतंजल योग दर्शन की महत्ता और परिचय—

यद्यपि प्राचीन काल से ही योग की अनेक शाखायें प्रचलित हैं और भगवद्गीता में भी राज-योग, ज्ञान-योग, कर्म-योग, भक्ति-योग आदि का उल्लेख किया गया है पर देशी-विदेशी सभी विद्वान इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि लोक में अष्टाङ्ग योग के आदि प्रचारक पतञ्जलि मुनि हैं और उन्हीं के आधार पर बाद में भिन्न-भिन्न शाखाओं और विधियों का आविर्भाव होता गया है। अनेक लेखक तो योग का अर्थ पतञ्जलि का 'योग-दर्शन' ही बतलाते हैं। वास्तव में पतञ्जलि ने प्रथम सूत्र में ही 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः (चित्त वृत्तियों का रोक लेना ही योग है) कहकर योग का जो मूलस्वरूप और दृढ़ आधार बतला दिया है, वही अभी तक स्थिर है और जितने भी अन्य मार्ग या विधियां

निकाली गई हैं, वे सब परिस्थिति, पात्र और अधिकार भेद से उसी आधार पर प्रतिष्ठित हैं । इसी से किसी विद्वान ने कहा है—

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम् ।
एतज् ज्ञानञ्च ध्यानञ्च शेषेऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥

अर्थात्—"तब तक मन का निरोध करे जब तक कि सब वासनायें नष्ट न हो जायँ । यही ज्ञान है, यही ध्यान है, बाकी सब ग्रन्थों का विस्तार है ।"

पातंजल योग दर्शन का प्रधान उपदेश यही है कि मनुष्य स्थूल भाव से प्रगति करके सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होता जाय अथवा भौतिकता को कम करके आत्म-तत्व को ग्रहण करता जाय । मनुष्य की चित्त वृत्तियाँ ही भौतिक अथवा स्थूल जगत की वस्तुओं को ग्रहण करने वाली, उनमें लिप्त होने वाली होती हैं । जैसे-जैसे उनका निरोध किया जायगा अर्थात् उनको बहिर्मुख अवस्था से अन्तर्मुख बनाया जायगा, वैसे-वैसे मनुष्य आत्म जगत में प्रविष्ट होता जायगा । इसका मुख्य साधन किसी विशेष विधि के द्वारा चित्त वृत्तियों को एक लक्ष्य पर केन्द्रित करना है । इस अभ्यास द्वारा अन्त में समाधि अवस्था की प्राप्ति हो जाती है जो कि योग मार्ग का चरम उद्देश्य है । पतंजलि ने इसीलिये आरम्भ में ही योग सिद्धि के मूल मन्त्र 'चित्त वृत्ति निरोध' का उपदेश दिया है और आगे चलकर उसकी पूर्ति के लिये अष्टांग-योग का साधन बतलाया है । जिन व्यक्तियों को योग-विद्या का यह पूरा 'कोर्स' (पाठ्यक्रम) कठिन जान पड़ता है, अथवा जो अपनी प्रकृति या रुचिभिन्नता के कारण क्रमशः पूरी शिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ हैं, वे इसी साधन विधि से किसी एक अंग या उपाय को लेकर उसी के द्वारा लक्ष्य तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं । इसी के फलस्वरूप लय-योग, जप-योग, मन्त्र-योग, ज्ञान-योग, हठ-योग आदि शाखाओं की उत्पत्ति हुई है, जिनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते अब एक सौ से भी ऊपर

पहुँच गयी है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सब विभिन्न योग-पंथों का आदि स्रोत पातंजलि योग-दर्शन ही है। आगे चलकर जब हम इन विविध मार्गों का परिचय देंगे तो पाठकों को यह रहस्य स्वयं विदित हो जायगा।

योग-दर्शन चार विभागों में बंटा हुआ है जिनमें सब मिलाकर १९५ सूत्र हैं। समाधिपाद में ५५, साधनपाद में ५१, विभूतिपाद में ५५ और कैवल्यपाद में ३४ सूत्र हैं।

समाधिपाद में योग का स्वरूप, उसके भेद तथा फल का वर्णन किया गया है। जो लोग जन्म या संस्कारवश योग के उपयुक्त ज्ञान और वैराग्य की स्वाभाविक भावना वाले हैं, (विदेह, प्रकृतिलय अथवा तीव्र संवेग वाले हैं) उनके लिये शीघ्र ही समाधि अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे लोग बिना किसी विशेष साधन के ही ईश्वर का ध्यान, आराधना करते हुये उसके स्वरूप को जान लेते हैं और उसमें स्थित हो जाते हैं। ऐसे लोग चाहे नियमपूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि का अभ्यास करें चाहें न करें वे अपनी अन्तःकरण की शुद्धता और निष्काम वृत्ति द्वारा योग के अन्तिम लक्ष्य असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधि तक पहुँच जाते हैं। ऐसे लोगों के लिये गुरु की भी विशेष आवश्यकता नहीं होती, चाहे वे लौकिक नियमानुसार किसी को गुरु बनाकर दीक्षा संस्कार की पूर्ति भले ही कर लें। इसलिये समाधिपाद के २५ और २६ सूत्रों में यही उपदेश दिया है कि ईश्वर ही 'निरतिशय ज्ञान' (सर्वज्ञाता) का भण्डार है, वही ब्रह्मा, विष्णु आदि त्रिदेवों का भी गुरु है, इसलिये उसी का प्रणिधान (भक्ति), ध्यान से परमात्म तत्व की प्राप्ति हो जाती है, योगी कैवल्य की स्थिति तक पहुँच जाता है।

दूसरे भाग साधनपाद में मध्यम या साधारण श्रेणी के साधकों के लिये, जो जन्म काल से सामान्य दर्जे के वातावरण में रहे हैं और सांसारिक मनुष्यों की तरह विभिन्न वासनाओं, राग-द्वेष आदि में ग्रस्त

हैं, एक ऐसा साधन मार्ग बताया गया है जिससे उनका क्रमशः आत्म विकास होता जाय, हृदय की मलिनता दूर होती जाय और चित्त शुद्ध होकर वे परमात्म-तत्व को जान सकने के अधिकारी हो जायें। इसलिये इस द्वितीय भाग के पहले ही सूत्र में कहा गया है कि—

तपः स्वाध्येश्वर प्रणिधानि क्रियायोगः

अर्थात्—"तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रिया-योग हैं।"

जो व्यक्ति जन्म से ही पूर्व संस्कारों के प्रभाव से संयम और वैराग्य की ओर दत्तचित नहीं है, उसे तप द्वारा शरीर, मन तथा इन्द्रियों को संयमित करना चाहिये, स्वाध्याय द्वारा धर्म के तत्वों को समझकर विवेक और बुद्धि को शुद्ध और सूक्ष्मदर्शी बनाना चाहिये, तथा ईश्वर प्रणिधान द्वारा अपने समस्त कर्मों का फल ईश्वर को समर्पण करने का अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार कुछ समय तक अभ्यास करने से मानसिक कलुष दूर होकर अष्टाङ्ग-योग साधन की पात्रता उत्पन्न हो जायगी। जब तक मानसिक वृत्तियाँ शुद्ध न होंगी, तब तक योग की अन्य क्रियाओं का विशेष फल नहीं हो सकता।

इस प्रकार साधनपाद में योग-मार्ग में आने वाले अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश-इन पाँच क्लेशों (बाधाओं) को बतलाकर उनको दूर करने के साधनों का परिचय कराया है। साथ ही कर्मों के भेद, कारण और स्वरूप को भी समझाया गया है जिससे उनका उचित रूप से विपाक होकर अध्यात्म-मार्ग में उचित प्रगति हो सके। जब तक मनुष्य कर्मों के बन्धनों में रहेगा, तब तक वह योग के अन्तिम लक्ष्य समाधि और मोक्ष को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकता। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अष्टांग योग में सर्वप्रथम यम-नियम का साधन बतलाया गया है जिससे साधक का मन और बुद्धि-योग साधन जैसे आत्मिक-विकास के उच्च स्तर तक पहुँचने के योग्य बन सके। उसके पश्चात् आसन और प्राणायाम का अभ्यास बतलाया गया है, जिससे साधक का

शरीर मल रहित, व्याधि-रहित और शक्ति सम्पन्न हो सके और वह आगामी योग क्रियाओं को स्वस्थ, निरोग रहते हुये उचित रीति से सम्पन्न कर सके। इस प्रकार शरीर को व्यवस्थित करके प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों और मन को संयमित किया जाता है, जिससे धारणा, ध्यान और समाधि के आगामी तीन अंगों का सफलतापूर्वक साधन किया जा सके।

विभूतिपाद में धारणा, ध्यान और समाधि की एक-एक सूत्र में व्याख्या करके और उनके तीन प्रकार के परिणाम दिखाकर उन विभूतियों अथवा असाधारण शक्तियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है जो कि समाधि अवस्था प्राप्त योगी को उपलब्ध हो जाती हैं या हो सकती हैं। इनका सारांश यही है कि जो साधक योग के आठों अंगों का सम्यक् प्रकार से साधन करके समाधि अवस्था पर पूर्ण रूप से अधिकार कर लेता है फिर उसके लिये संसार का कोई भी काम कठिन या असम्भव नहीं रहता। वह समस्त प्राकृतिक, दैवी और आध्यात्मिक शक्तियों का स्वामी बन जाता है। 'चमत्कार' तो उन शक्तियों की तुलना में एक तुच्छ बात है। वास्तव में योगी परमात्म तत्व का साक्षात्कार करके उसी के समान सामर्थ्यवान बन जाता है और उसे सब प्रकार का ज्ञान और शक्तियाँ स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाती हैं। पर साथ ही यह भी निश्चित है कि सच्चा योगी न तो इन विभूतियों को अपना लक्ष्य समझता है और न कभी उनकी तरफ आकर्षित होता है। पतंजलि मुनि ने इन विभूतियों का वर्णन संभवतः योग का महत्व दर्शाने या साधकों के विश्वास तथा श्रद्धा को दृढ़ करने के लिये किया प्रतीत होता है। योग साधन का अन्तिम लक्ष्य सब प्रकार के कर्म बन्धनों से छुटकारा पाकर कैवल्य पद प्राप्त करना होता है जब कि विभूतियां और सिद्धियां अधिकांश में कर्म-बन्धन उत्पन्न करने वाली ही सिद्ध हो सकती हैं। इसलिये विभूतिपाद के अन्त में यह बतला दिया गया है कि विभूतियों का प्रयोजन यह है कि उसके साधक को आत्मा-परमात्मा, विश्व के रहस्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय और इससे वह

भौतिक सुखों या सांसारिक वैभव की निस्सारता और क्षणिकता ठीक तरह से जानकर उनकी तरफ फिर कभी आकर्षित न हो सके। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने पर क्या होता है यह इस तीसरे पाद के अन्तिम सूत्र में कहा गया है—

सत्वपुरुषयो शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति ॥

अर्थात्—"चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है।"

इसका आशय यही है कि जब साधक विश्व के समस्त रहस्यों और मनुष्य की अन्तःबाह्य अवस्था का प्रत्यक्ष रूप में दर्शन करने लग जाता है तब उसके समस्त कुसस्कार और रजोगुण तथा तमोगुण के मल विक्षेप यहाँ तक दूर हो जाते हैं कि वह केवल सत्-स्वरूप ही हो जाता है। इसी को 'स्वरूप' में स्थित होना कहते हैं।

चौथे विभाग कैवल्यपाद में बतलाया है कि यद्यपि जन्म, औषधि, मन्त्र, तप से मनुष्य के शरीर, इन्द्रियों और चित्त में परिवर्तन होने से विलक्षण शक्तियों की उत्पत्ति हो जाती है, पर इन सब के द्वारा कैवल्य पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिये केवल-ध्यान (समाधि) द्वारा होने वाले परिवर्तन ही फलप्रद हैं क्योंकि औषधि, मंत्र आदि के द्वारा विलक्षण शक्तियाँ प्राप्त होने पर मनुष्य के चित्त में पुराने और नये कर्मों के संस्कार शेष रह जाते हैं, जो उसे जन्म मृत्यु के चक्र से नहीं निकलने देते। पर जिसने ध्यान या समाधि द्वारा शरीर और चित्त में परिवर्तन किया है, उसके कर्म संस्कार समाप्त हो जाते हैं और वही कैवल्य या मुक्ति का अधिकारी होता है क्योंकि कर्म का उद्देश्य तो सांसारिक भोग या स्वर्ग की प्राप्ति होता है, पर इन दोनों की कामना योगी को शेष नहीं रहती। उसके हृदय में से तीनों गुणों और उनसे उत्पन्न होने वाली भली-बुरी समस्त कामनाओं का अन्त हो जाता है। तब निष्काम भाव से किये गये कर्म किसी प्रकार के बन्धन पैदा नहीं करते और वह निज स्वरूप में अवस्थित होकर मुक्त-पुरुष बन जाता है।

इस प्रकार योग-दर्शन का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को दुःख-सुख रूप कर्मों के बन्धन और उसके परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले आवागमन (नाना प्रकार की योनियों और पुनर्जन्मों की शृंखला) से छुड़ाकर आत्म कल्याण का सीधा, सच्चा और क्रियात्मक मार्ग दर्शन कराना है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में अन्य शास्त्रों की तरह किसी दूसरे सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन को तनिक भी स्थान नहीं दिया गया है, वरन् संक्षिप्त शब्दों में अपना मन्तव्य कह कर साधन की इच्छा रखने वाले को वह मार्ग बतला दिया गया है, जिस पर चलकर वह स्वयं सब बातों का प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ अपनी शक्ति और सामर्थ्य से गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकता है।

योग शक्ति भंडार की कुंजी है

योग-दर्शन के संक्षिप्त विवेचन पर विचार करने से विदित होता है कि योग आध्यात्मिक लक्ष्य के प्राप्त करने का तो अचूक साधन है ही, पर सांसारिक दृष्टि से भी मानव-जीवन की सफलता तथा सार्थकता का सर्वोत्तम मार्ग है क्योंकि योग का सबसे मुख्य लाभ सब प्रकार की बाधाओं को हटाकर, चित्त (मन) और उसकी वृत्तियों (इच्छा और कामनाओं) पर अधिकार प्राप्त करना होता है। यह सभी जानते हैं कि इच्छा शक्ति और धारणा शक्ति संसार की सबसे प्रबल शक्तियाँ हैं और आज तक जितने महान अथवा प्रसिद्ध पुरुषों ने जो कुछ बड़े काम करके दिखाये हैं, वे सब इन्हीं के द्वारा सिद्ध हुये हैं।

यह कोई आवश्यक बात नहीं कि इन सब लोगों ने योग-दर्शन में बतलाये हुये साधन ही किये हों। कितने ही लोगों में ये शक्तियां जन्मजात होती हैं और कितनों को विशेष परिस्थितियों में रहने से भी प्राप्त हो जाती हैं। स्वयं महर्षि पतंजलि ने 'विदेह' और प्रकृतिलय योगियों का वर्णन करते हुये यही बतलाया हैं कि उनको यौगिक शक्तियाँ पूर्व जन्म के संस्कारों से स्वभावतः ही प्राप्त होती हैं।

योग के द्वारा मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण मानसिक शक्तियों को एकत्रित करके एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित करने का अभ्यास हो जाता है, जिससे उसे तत्सम्बन्धी वास्तविक ज्ञान हो जाता है और वह अपनी शक्ति का प्रयोग बिल्कुल ठीक ढंग से करके सहज में और कम समय में कार्य को सिद्ध कर सकता है। इसके द्वारा मनुष्य के भीतर रहने वाली मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। जो योग द्वारा अपने पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है, वह प्रकृति और भौतिक जगत के समस्त कार्यों का इच्छानुसार नियंत्रण और शासन कर सकता है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये एक योग-विज्ञान के ज्ञाता ने कहा है—

"योगी के समाहित चित्त की तुलना बिजली के सर्च लाइट से की जा सकती है। अपने मन की केन्द्रीभूत तथा एकोन्मुखी किरणों को जब वह किसी पदार्थ विशेष पर फेंकता है, चाहें वह स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, तब उस वस्तु का रेशा-रेशा जगमगा उठता है और वह उसके सामने अपने सत्य स्वरूप में प्रकट हो जाती है। साधारण मनुष्यों की दृष्टि वस्तुओं की तह तक इसलिये नहीं पहुँच पाती क्योंकि उनकी मानसिक शक्तियां साधारण प्रकाश से बिखरी हुई किरणों की भांति अस्त-व्यस्त और छिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार यदि मन की वृत्ति को आभ्यन्तरिक वस्तुओं पर स्थिर किया जाय अथवा आध्यात्मिक जगत के तथ्यों पर ठहराया जाय तो विश्वात्मा का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता हैं।"

इस प्रकार हमको यह प्रतीत होता है कि मन की ध्यान-शक्ति इन्द्रियों और भौतिक विज्ञान की समस्त शक्तियों से बढ़कर है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ये भौतिक शक्तियाँ भी मनःशक्ति द्वारा ही प्रकट की जाकर कार्य रूप में प्रयुक्त की जाती हैं। यदि हम इस शक्ति को अन्तर्मुखी करके आत्मा की खोज में संलग्न कर दें तो उनका रहस्य भी अवश्य विदित हो सकता है। तब हम वेदों और शास्त्रों के इस कथन का वास्तविक मर्म शीघ्र ही समझ सकते हैं कि 'संसार में जो कुछ दिखलाई देता है और जो कुछ हम अनुभव द्वारा ज्ञात करते हैं, उसका मूल उद्-

गम स्थान एक ही सत्ता है।' उस समय हम यह भी समझ जायेंगे कि हम भी उसी सत्ता के एक अंश हैं और हमारी आत्मा में भी वे शक्तियां निहित हैं जो परमात्मा में बतलाई जाती हैं। यही बात गीता के इस श्लोक में की गई है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(भगवद्गीता ६।२९)

अर्थात्—"योगयुक्त पुरुष सब पदार्थों में आत्मा का निवास देखता है। इस प्रकार उसे संसार की वास्तविक एकता का ज्ञान हो जाता है और वह समदर्शी बन जाता है।"

यही योग का वास्तविक लाभ है। संसार में मनुष्यों को जो कुछ भय, विरक्ति व दुःख का अनुभव होता है उसका एकमात्र कारण भिन्नता अथवा परायापन का ही बोध होता है। दो भिन्न पदार्थों अथवा व्यक्तियों में ही प्रतियोगिता अथवा संघर्ष हो सकता है। पर जब पृथकता की भावना को मिटाकर मनुष्य संसार में सर्वत्र एक ही तत्व का अनुभव करने लगेगा तो न तो वह किसी से भयभीत हो सकता है, न घृणा कर सकता है, न क्रोध कर सकता है। ऐसा व्यक्ति ही पूर्ण निर्भय, निर्द्वन्द्व हो सच्ची शांति और सुख का उपभोग कर सकता है। यद्यपि इस सिद्धान्त का उपदेश प्रत्येक महापुरुष और धर्म प्रचारक ने किया है और भारतीय मनीषियों ने अति प्राचीन काल में ही 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की घोषणा कर दी थी, पर केवल सुनने या पढ़ लेने से इसकी पूर्ण रूप से प्रतीति हो सकना और व्यावहारिक रूप में इसका प्रयोग हो सकना कठिन होता है। योग ही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है और तब वह जगत में वास्तव में अजात-शत्रु होकर विचरण कर सकता है।

वेदान्त दर्शन ने भी एक चिन्मय अद्वैत ब्रह्म का पता लगाया है और साधक को "अहं ब्रह्मास्मि" अथवा 'तत्वमसि' का उपदेश देकर ज्ञान-मार्ग द्वारा ही ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग बतलाया है। पर किसी प्रकार की प्रत्यक्ष अनुभूति के बिना उक्त ज्ञान और सिद्धान्त कथन मात्र ही रह जाता है और अधिकांश वेदान्ती सांसारिक प्रपञ्चों में अन्य लोगों की तरह ही लिप्त दिखाई पड़ते हैं। योग-मार्ग ही ऐसा है जिससे वेदान्त-सिद्धान्त की सच्चाई का प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है और जीव तथा ब्रह्म की एकता को स्वयं अनुभव का विषय बनाया जा सकता है। इसके लिये क्रियात्मक साधन और अभ्यास का होना परमावश्यक है।

योग की विभिन्न शाखायें और विधियां

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं महर्षि पतंजलि द्वारा कहे गये 'योग-दर्शन' के आधार पर कालक्रम और रुचिभेद के कारण थोड़ा-थोड़ा अन्तर करके अथवा किसी एक साधन को ही विशेषता देकर भिन्न-भिन्न प्रकार के योग-मार्गों का प्रचार किया गया है। कुछ लोगों ने शरीर को ही अधिक महत्त्व का और प्रत्यक्ष समझकर नेति, धोति, वस्ति, चौरासी आसन, मुद्रा, त्राटक, प्राणायाम की ओर विशेष ध्यान दिया। उनके मतानुसार सृष्टि पंच महाभूतों का ही खेल है, इसीलिये उन्हीं महाभूतों से निर्मित देह के साधन द्वारा ही उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार इन हठ-योग वालों का लक्ष्य शारीरिक शक्तियों को असामान्य रूप से विकास करके उन्हीं के द्वारा अद्वैत सिद्धान्त के लक्ष्य को प्राप्त करना था। अन्य लोगों ने मन को अधिक महत्व देकर राजयोग का मार्ग निकाला। इसमें मन को पूर्ण रूप से स्वस्थ और संयमी बनाकर संकल्प शक्ति की वृद्धि करना था। इनके कथनानुसार सब प्रकार की भौतिक शक्तियों और घटनाओं की बागडोर मन अथवा चित्त की शक्ति के हाथ में रहती है। इसके द्वारा थोड़े ही समय में सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है।

तीसरे वर्ग के मनीषियों ने कहा कि शरीर और मन, ये दोनों तो विनाशशील तत्व हैं। इनके द्वारा किसी अविनाशी तत्व की जानकारी या प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्म-तत्व की प्राप्ति न तो आसन और मुद्राओं से हो सकती है और न मन को सांसारिक भोगों पर से दूर कर लेने से। हठयोग आदि की विधि से अधिक से अधिक सगुण ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। पर सगुण ब्रह्म देश-काल से परिच्छिन्न (ढका हुआ) है। इसे मोक्ष नहीं कह सकते। वास्तविक मोक्ष वेदान्त के अनुसार आत्म साक्षात्कार करके 'अहं ब्रह्मास्मि' के सिद्धान्त की प्रतीति कर लेनी है। इस प्रकार देश-काल की परिच्छिन्नतता से पृथक चिन्मय ब्रह्म को पाना ही मोक्ष का एकमात्र उपाय है और यह ज्ञान-योग द्वारा ही संभव हो सकता है। इसी प्रकार कर्म-योग, लय-योग आदि का प्रतिपादन भी किया गया।

हमारे कथन का यह आशय कदापि नहीं कि योग-साधन की ये विभिन्न प्रणालियां महत्वहीन या निरर्थक हैं। यह कोई नहीं कह सकता कि हठ योग के प्रचारक महायोगी गोरखनाथ अथवा शब्द-योग की शिक्षा देने वाले कबीर साहब, या तन्त्र-योग के आविष्कार सिद्ध-नागार्जुन आदि योग-तत्व से अपरिचित थे अथवा उन्होंने जिस मार्ग का उपदेश दिया वह असत्य का निस्सार था। नहीं, ये सब योग-प्रणालियां देश, काल और पात्र के भेद के कारण आवश्यकतावश खोजकर निकाली गईं। उदाहरणार्थ जिन लोगों की मनोवृत्ति सांसारिक भोगों की ओर विशेष झुकी हुई थी अथवा जिन प्रदेशों या जातियों में मांस-भक्षण, मद्यपान आदि का विशेष प्रचार था उनको एक सीमित क्षेत्र में संयम-युक्त जीवन की शिक्षा देने और आध्यात्मिक मार्ग पर चलाने के लिये तांत्रिक-योग का उपदेश दिया गया। इसी प्रकार जिन लोगों का मानसिक विकास अधिक नहीं हुआ था, जो वेदान्त के सूक्ष्म तत्वों को ठीक तरह से नहीं समझ सकते थे उनको शारीरिक क्रियाओं द्वारा ही शरीर और किसी हद तक मन का भी संयम और नियन्त्रण करने की विधि

बतलाई गई। जो लोग प्रत्याहार और धारणा द्वारा मन को एकाग्र करने में असमर्थ थे उनको शब्द योग या नादानुसंधान द्वारा चित्त को एक विषय में केन्द्रित करने का उपाय बताया गया।

इस दृष्टि से योग की अनेक शाखाओं का होना और उनमें अलग-अलग विधियों का निर्देश कोई ऐसी बात नहीं है जिससे योग मार्ग की अनिश्चितता या हीनता का बोध होता हो। जिस तरह भगवान की उपासना के लिये पात्र-भेद से मूर्तिपूजा, तीर्थ भ्रमण, जप, ध्यान आदि कई तरह के उपाय बतलाये गये हैं वही बात योग की विभिन्न शाखाओं और प्रणालियों के विषय में भी समझनी चाहिये। अथवा इनको महा-योग-पूर्णयोग की सीढ़ियाँ भी माना जा सकता है। जो साधक आरम्भ में ही महर्षि पंतजलि द्वारा उपदेशित अष्टाङ्ग योग का साधन करने में अपने को असमर्थ समझता है, वह हठयोग, जपयोग या मन्त्रयोग द्वारा शारीरिक और मानसिक शक्तियों की वृद्धि करके पुनः अष्टाङ्ग योग का यथोचित अभ्यास कर सकता है।

विभिन्न योग-प्रणालियों पर एक दृष्टि—

वर्तमान समय में योग सम्बन्धी ग्रन्थों में जिन अनेक प्रकार की योग प्रणालियों का वर्णन मिलता है तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अनु-यायी जितने प्रकार के योगों का नामोल्लेख किया करते हैं, उन सबकी यदि गणना की जाय तो वह एक सौ से भी ऊपर पहुँच सकती है। उनमें पाठकों को ऐसे-ऐसे नाम भी मिलेंगे जिनका सम्बन्ध वास्तविक योग मार्ग से नाममात्र के लिये ही संभव हो सकता है और जो लोगों को बड़े अट-पटे से जान पड़ते हैं। पर जब हम 'योग' शब्द की इस व्याख्या पर ध्यान देते हैं कि "जीवात्मा और परमात्मा के मिलन का जो उपयुक्त मार्ग है, वही योग है "अथवा" चित्तवृत्तियों को संयमित करके एकाग्र कर सकने का अभ्यास ही योग है" तो हम इन विविध प्रकार की विधियों के साथ 'योग' शब्द का प्रयोग करना सर्वथा असंगत नहीं कह सकते।

यदि किसी साधारण पढ़े-लिखे समझदार आदमी से योग के विषय में पूछा जाय तो वह प्रायः दो प्रकार के योग-मार्गों का ही उल्लेख कर सकेगा—हठयोग और राजयोग। पर यदि इससे भी कम पढ़े या अनपढ़ साधारण जनता के व्यक्ति से बातचीत की जाय तो वह योग का आशय केवल आसन-प्राणायाम आदि हठयोग की प्रक्रियाओं को ही बतलायेगा। पर जैसा हमने ऊपर कहा है योग की अन्य प्रणालियाँ भी कम महत्वपूर्ण या प्रभावशाली नहीं हैं और उनके द्वारा भी लाखों व्यक्ति आत्मोन्नति के उद्देश्य की पूर्ति करते रहते हैं और उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। नीचे हम वर्तमान समय में प्रसिद्ध कुछ योग-मार्गों के नाम देते हैं, उसके पश्चात् उनमें से मुख्य-मुख्य का साधारण परिचय भी यथास्थान देंगे जिससे पाठकों को इस शास्त्र या दर्शन के विस्तार और विशालता का कुछ अनुमान हो सकेगा—

(१) राजयोग (२) हठयोग (३) ज्ञानयोग (४) कर्मयोग (५) भक्तियोग (६) जपयोग (७) लययोग (८) मन्त्रयोग (९) शब्दयोग (१०) प्रणययोग (११) हंसयोग (१२) तंत्रयोग (१३) स्वरयोग (१४) ध्यानयोग (१५) भृगुयोग (१६) शिवयोग (१७) पाशुपतयोग (१८) प्रेमयोग (१९) अनासक्त योग (२०) समाधि-योग (२१) ब्रह्मयोग (२२) नामकीर्तन योग (२३) तारक योग (२४) पुरुषोत्तम योग (२५) प्रकृति पुरुष योग (२६) भावयोग (२७) अभाव-योग (२८) स्पर्शयोग (२९) अस्पर्शयोग (३०) बुद्धियोग (३१) क्रिया-योग (३२) विज्ञान योग (३३) गृहस्थयोग (३४) पतिव्रतयोग (३५) सांख्ययोग (३६) कुंडलिनी योग (३७) सुषुप्तियोग (३८) स्वप्नयोग (३९) चित्तयोग (४०) इच्छायोग (४१) मानसयोग (४२) अहङ्कारयोग (४३) ज्ञानेन्द्रिययोग (४४) कर्मेन्द्रियोग (४५) पूर्णयोग (४६) कबीर पंथी योग (४७) स्वामीनारायण योग (४८) बौद्धमत-योग (४९) जैनमतयोग (५०) पारसी मत-योग (५१) ईसाई मत-योग।

इनके सिवाय और भी अनेक योगों के नाम विभिन्न पुस्तकों और लेखों में पढ़ने में आते रहते हैं। वास्तव में सभी सम्प्रदायों ने अपनी विशेष साधन विधियों को योग का नाम दिया है और यह अनुचित या असंगत भी नहीं है, क्योंकि जब 'योग' का अर्थ ही परमात्मा या भगवान से साक्षात्कार करने के विशेष साधन से है तो सभी सम्प्रदाय और मत-मतान्तर वैसी कोई न कोई विधि अपने यहाँ बतलायेंगे ही। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उन सबका उद्गम स्थान या प्रेरणा-स्रोत महामुनि पतंजलि का यह योग-दर्शन ही है।

पातंजल 'योग-दर्शन' की कुछ विशेषताएँ

हमारे देश में दर्शन शास्त्र का आविर्भाव अति प्राचीन काल से ही हुआ है। जैसा हम अन्यत्र दिखा चुके हैं योग और ब्रह्म-विद्या के तत्व तथा सिद्धान्त वेद और उपनिषदों में भी मौजूद हैं। सच पूछा जाय तो भारतीय दर्शनों का मूल उद्गम उपनिषद् ही है। सांख्य, योग और वेदान्त तो स्पष्टतः उपनिषदों का आधार लेकर ही विकसित किये गये हैं। भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के निचोड़ "भगवद्गीता" को भी उपनिषदों का सारांश ही कहा गया है। यह ठीक है कि दर्शनों की विचारधारा विशेष रूप से व्यवस्थित और तर्कयुक्त है, और उपनिषदों में ये सिद्धान्त और विचार विभिन्न ऋषियों की अनुभूति के रूप में यत्र-तत्र बिखरे हुये हैं, पर विवेचन और निष्कर्ष की दृष्टि से दोनों में कोई खास अन्तर नहीं है। योग-दर्शन तो उपनिषदों के बहुत निकट है और कई प्राचीन उपनिषदों में भी योग-साधन का विधि-विधान प्रर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

भारत के छै प्रसिद्ध दर्शन-शास्त्रों में सबसे प्राचीन और प्रमुख कौन-सा है, इसका निर्णय यद्यपि अभी तक सन्तोषजनक रीति से नहीं हो सका है, पर योग-दर्शन की श्रेष्ठता सबने स्वीकार की है। साधारण शिक्षित वर्ग में भी योग-दर्शन का जितना मान और प्रचार है, उतना अन्य

किसी का नहीं है। सच पूछा जाय तो साधारण योग के सिवाय और किसी दर्शन का नाम भी बहुत कम जानते हैं। इनमें से वेदान्त का पर्याप्त नाम और प्रचार होने पर भी लोगों के विचार में वह एक अव्यवहारिक सिद्धान्त है। वे कहते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि' कह देना या मुंह से समस्त संसार को माया का झूठा प्रपंच बतला देना तो सहज है, पर इन बातों के अनुसार आचरण करना नरतनधारी के लिये संभव नहीं। योग-दर्शन के क्रियात्मक होने के कारण लोग उसकी सत्यता पर अधिक विश्वास करते हैं और यह मानते हैं कि उसे जो कोई जितना करेगा, उतना फल या लाभ तो प्राप्त कर ही सकेगा।

आस्तिकता का प्रतिपादन—

योग-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता तो हमको यह जान पड़ती है कि यह ईश्वर पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखने का उपदेश देता है और इस प्रकार लोगों को आस्तिक बनना सिखाता है। यों कहने के लिये सभी दर्शन किसी न किसी रूप में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, पर उन्होंने उसे ऐसा रूप दे दिया है जिससे एक साधारण पढ़े लिखे व्यक्ति के लिये उसका समझ सकना बड़ा कठिन हो जाता है। पर महर्षि पतंजलि ने ईश्वर के स्वरूप, उसकी उपासना और प्रभाव को ऐसे ढंग से समझाया है कि एक सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति को भी उसमें सन्देह नहीं रहता। ईश्वर का स्वरूप वर्णन करते हुये वे कहते हैं—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।१-२४

पतंजलि कहते हैं कि ईश्वर आत्मा के रूप से भिन्न नहीं है, पर संसार में आया हुआ जीवात्मा जिस प्रकार अविद्या, राग, द्वेष आदि क्लेशों में फँस रहा है, वह दोष ईश्वर में बिल्कुल नहीं है। ईश्वर में किसी प्रकार की वासना नहीं है, इसलिये वह कोई कर्म भी नहीं करता। कर्म न करने से उसे न तो किसी प्रकार का कर्म फल भोगना पड़ता है और न वह प्रारब्ध के बन्धन में पड़ता है। उसका इन बातों से कभी

किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रहा। यद्यपि जीवात्मा भी मुक्त होने के पीछे इसी प्रकार क्लेष और कर्म बन्धन से सर्वथा पृथक हो जाता है, तो भी पहले तो उसका इनसे सम्बन्ध रहता ही है, जबकि ईश्वर का सम्बन्ध कभी नहीं रहता। इसलिये ईश्वर 'पुरुष' होने पर भी 'विशेष पुरुष' है। फिर ईश्वर की दूसरी विशेषता बतलाते हैं—

तत्रनिरतिशय सर्वज्ञबीजम् ॥१-२५॥

उस ईश्वर में सर्वज्ञता का गुण पूर्ण मात्रा में पाया जाता है। भूत, भविष्य और व्रतमान में जो स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ हैं या घटनायें होती रहती हैं, उन सबका न्यूनाधिक मात्रा में ज्ञान अनेक मनुष्यों को होता है। योगी लोग चित्त की एकाग्रता और किसी विषय में विशेष रूप से संयम करके इतना ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं जो हमको चमत्कार की तरह जान पड़ता है। पर उसका ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। छोटे योगी से बड़े योगी को अधिक ज्ञान होता है और सिद्ध योगी को उनसे भी बहुत अधिक होता है, पर फिर भी उनको सर्वज्ञ नहीं कह सकते। ईश्वर में ज्ञान की अवधि है अर्थात् उससे बढ़कर और किसी का ज्ञान नहीं हो सकता। इस दृष्टि से ईश्वरीय विधान, उसके न्याय और आदेशों में किसी तरह की शंका करना अनुचित है और उसे अपने लिये कल्याणकारी समझकर शिरोधार्य करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

मनोविज्ञान का नियम है कि मनुष्य अपने सम्मुख जैसा आदर्श रखता है, जैसे कि वह उपासना, भावना करता है, वैसा ही वह स्वयं भी बनता जाता है। भावना और एकाग्रता में बड़ी शक्ति है और योगशास्त्र का ही नहीं संसार के सभी बुद्धिमान और ज्ञानी जनों का यह कहना कि संकल्प बल और विचारों की शक्ति द्वारा मनुष्य ऐसे बड़े से बड़े कामों को करके दिखा सकता है जो सामान्यतः असम्भव प्रतीत होते हैं। इसलिये जो व्यक्ति ईश्वर को अपना उपास्य मानकर श्रद्धा और विश्वासपूर्वक उसकी आराधना करेगा, वह निश्चय ही क्लेशों से मुक्त, कर्म बन्धनों

से रहित और ज्ञान में निरन्तर प्रगतिशील बनता चला जायगा। इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर योग मार्ग में अग्रसर होते हुये समाधि अवस्था तक पहुँचने का सबसे अन्तिम और मुख्य उपाय यह बताया गया है—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा ॥२३॥

समाधि अवस्था को प्राप्त करके कैवल्य की स्थिति तक पहुँचने के कई उपाय बतलाये गये हैं जैसे जन्मजात योग के संस्कार, श्रद्धा, विश्वास-प्रज्ञा पूर्वक साधन करना, तीव्र वैराग्य हो जाना। पर इन सबसे अधिक शीघ्र फलदायक और प्रभावशाली उपाय 'ईश्वर-प्रणिधान' अर्थात् भक्ति भाव पूर्वक ईश्वर की शरण में जाना है। जो साधक अपनी शक्ति को अल्प और त्रुटिपूर्ण समझकर अपने कर्मों को ईश्वरार्पण करने का मार्ग अपना लेगा और साधन में सफलता-असफलता का समस्त भार भी ईश्वर पर ही छोड़ देगा, उसको अन्य साधकों की अपेक्षा शीघ्र ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आस्तिकता की शक्ति संसार में सबसे महान और फलदायक है। वही आत्मोन्नति का प्रधान आधार है और उसी से सत्कर्मों की प्रेरणा मिल सकती है। आस्तिकता से रहित व्यक्ति का जीवन बिना पतवार की नाव की तरह इधर-उधर निरुद्देश्य भटकता रहता है, वह न अपने लिये उपयोगी बन सकता है और न दूसरों के लिये। मनुष्य चाहे दिखाने के लिये बड़ी बड़ी बातें करले, पर ईश्वर पर विश्वास रखकर कार्य किये बिना उसके जीवन में सफलता की ज्योति दिखाई नहीं पड़ सकती। पतंजलि कहते हैं कि ईश्वर की शरणागति से योग-सिद्ध जैसा उच्च लक्ष्य भी शीघ्र प्राप्त हो जाता है, तब अन्य प्रकार की साधारण सफलताओं के सम्बन्ध में तो किसी तरह का सन्देह किया नहीं जा सकता।

यम नियमों की महत्ता—

अष्टाङ्ग योग का अन्तिम लक्ष्य समाधि माना गया है और उसके

मुख्य साधन धारणा और ध्यान बतलाये गये हैं। सामान्य पाठक आसन और प्राणायाम को ही मुख्य अंग मानते हैं, पर योग-दर्शन में जहां आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि का उल्लेख एक या दो सूत्रों में किया है, वहाँ यम-नियम को समझाने के लिये उन्होंने बीस-पच्चीस सूत्र लिखे हैं और वस्तुतः योग का महत्त्व है भी यम और नियमों के कारण ही। उनके बिना आसन और प्राणायाम केवल एक प्रकार का व्यायाम हैं और धारणा तथा ध्यान व्यर्थ का ढकोसला। एक ज्ञानी आदमी की दृष्टि में समस्त योग साधन का मूल-तत्व अथवा सार यम-नियम में ही है। भला अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह से बढ़कर मानवता के चिन्ह और क्या हो सकते हैं? जिसने इनका भली प्रकार अभ्यास कर लिया उसके लिये योग की सिद्धि में कुछ सन्देह ही नहीं है और जिसने इनकी उपेक्षा करके आसान और प्राणायाम से योगाभ्यास का आरम्भ किया (जैसा अधिकांश व्यक्ति किया करते हैं) तो वे सात जन्म में भी योगी के लक्ष्य को प्राप्त न कर सकेंगे।

वस्तुतः 'यम' के रूप में योग-दर्शन में जिन बातों का साधन करने का निर्देश किया है, वे मानवता के ऐसे मौलिक कर्तव्य हैं जिनके आधार पर समाज टिका हुआ है और जिनमें कमी पड़ने से उसमें गड़बड़ी पैदा हो जाती है।

मनुष्य के सामने सबसे पहला प्रश्न जीवित रहने व अपना अस्तित्व कायम रखने का है। इस अधिकार के साथ 'अहिंसा' का सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। समाज के सदस्य जितने परिणाम में अहिंसा-व्रत का पालन करेंगे, उतने ही परिणाम में सब लोग निर्भय और आश्वस्त रह सकेंगे।

दूसरा सामाजिक कर्तव्य पारस्परिक विश्वास और प्रतिज्ञा-पालन करने का है। समस्त सामाजिक व्यवहार और लेन-देन इसी के आधार पर चलते हैं। यदि लोगों को इस बात का निश्चय न रहे कि उनके साथ जो 'इकरार' किया गया है—'वचन' दिया गया है, उसका पालन किया

जायगा, तो सारी सामाजिक व्यवस्था दो दिन में अस्त व्यस्त हो जायगी। इस विषय का सम्बन्ध 'सत्य' के व्रत से है। जिन समाजों में सत्य का जितना अधिक पालन किया जाता है, वे उतने ही समुन्नत दिखाई पड़ते हैं।

समाज की नींव मजबूत करने और शान्ति कायम रखने के लिये तीसरी बात प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम का फल प्राप्त होना और उस पर अधिकार रखना है। यदि लोगों में छीना-झपटी और पर-सत्वापहरण की मनोवृत्ति घर कर ले तो उस समाज की उन्नति होना तो दूर शान्ति से जीवन व्यतीत करना भी असम्भव हो जायगा। उस अवस्था में अधिकांश व्यक्ति न्यायोचित मार्ग द्वारा निर्वाह करने के बजाय चोरी डाका को ही अच्छा काम समझने लगेंगे जिससे समाज का उच्छेद ही हो जायगा। इसीलिये दोनों को 'अस्तेय' का व्रत पालन करने को कहा गया है, जिससे समाज अनीति और अन्याय से बचा रहे।

समाज का निर्माण परिवारों से होता है। उसका प्राथमिक रूप एक स्त्री और एक पुरुष के संयुक्त होने में रहता है। समाज की सुव्य-वस्था, शुद्धता के लिये यह परमावश्यक है कि इस सम्मिलित जीवन पर कोई बाहरी हस्तःक्षेप न हो। जिन जातियों में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की पवित्रता की रक्षा नहीं की जाती और उसे किसी प्रकार के छल-बल से खराब करने की कोशिश की जाती है, वे पतित हो जाती हैं उनको सभ्य तथा समुन्नत कहना हँसी की बात है। इस सामाजिक अधिकार की रक्षा के लिये 'ब्रह्मचर्य' के व्रत का प्रसार अनिवार्य है। अनुचित ढङ्ग की कामुकता के निवारण के बिना सामाजिक पवित्रता की रक्षा नहीं हो सकती।

समाज की प्रगति के लिये एक बात यह भी आवश्यक है कि सभी मनुष्यों को कार्य करके उचित रीति से जीवन निर्वाह कर सकने का मौका दिया जाय। वर्तमान लोगों की वासनायें और लालसायें इतनी बढ़ गई हैं

कि वे समाज के अन्य लोगों का ख्याल रखे बिना सब प्रकार की जीवनोपयोगी सामिग्री को अधिक से अधिक अपने पास जमा कर लेना चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक मनुष्यों को कार्य करके उचित परिणाम में सामिग्री प्राप्त कर सकना कठिन हो जाता है और उनको लाचार होकर निम्न स्तर में पड़े रहना पड़ता है। इस दोष के निवारण के लिये 'अपरिग्रह' का व्रत आवश्यकीय है। मनुष्य अपनी सम्पत्ति पर अधिकार रखकर उसका उपयोग करता रहे, इसमें कोई एतराज की बात नहीं, पर उसे यह भी ख्याल रखना चाहिये कि दूसरे व्यक्तियों को भी सामाजिक सम्पत्ति में से उचित भाग मिल सके और वे भी अपना निर्वाह कर सकें।

इस प्रकार पाँच प्रकार के यमों का पालन करने के रूप में योग-दर्शन ने उन कर्तव्यों की शिक्षा दी है जिनके बिना समाज का अस्तित्व तथा सुस्थिरता कायम नहीं रह सकती और आध्यात्मिक उन्नति तो क्या मनुष्य साधारण रूप से जीवन निर्वाह कर सकने, शान्ति पूर्वक खा सकने तथा सो सकने में भी असमर्थ हो जायगा। ये पाँचों कर्तव्य या व्रत ऐसे हैं जो प्रत्येक सभ्य व्यक्ति के लिये पालन करने आवश्यक हैं।

नियमों का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है। उनमें जिन व्रतों का पालन करने पर जोर दिया गया है वे सब ऐसे हैं जिनसे मनुष्य का जीवन वास्तव में सुखी और सन्तुष्ट बन सकता है। यदि कोई व्यक्ति उनका उचित रूप से पालन नहीं करता तो उसमें मुख्यतः उसी की हानि होती है और वही अपने जीवन को निम्न श्रेणी का बनाता है। पर चूँकि वह समाज में रहता है और उसका एक सदस्य है, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से इसमें समाज का भी अहित है क्योंकि ऐसा व्यक्ति समाज का उपयोगी सदस्य नहीं बन सकता।

पहला नियम 'शौच' (बाहरी और भीतरी स्वच्छता) का इसलिये परमावश्यक है कि यह मुख्यतः स्वास्थ्य का आधार है और अस्वस्थ

मनुष्य अपने लिये, अपने परिवार के लिये और समाज के लिये भी भार रूप सिद्ध होता है। शरीर से मन का भी बहुत सम्बन्ध है। यदि शरीर अस्वस्थ, गन्दा है तो मन भी कभी शक्तिशाली तथा शुद्ध नहीं रह सकता। फिर आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति तो दर किनार सम्मानपूर्वक जीवन बिताना भी सम्भव न होगा।

भोग की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है और यह जीवन-रक्षा के लिये आवश्यक भी है। पर यदि हमारे भीतर संतोष की भावना न हो तो हम पर्याप्त से भी अधिक पाकर प्रसन्न नहीं हो सकते। ससार में भोग्य पदार्थों की कमी नहीं, उनकी संख्या लाखों-करोड़ों है। हम किस प्रकार सबको पा सकते हैं, या भोग सकते हैं? इसलिए मनुष्य को अपनी लालसा को सीमित करना चाहिये। यदि ऐसा न किया जायगा तो वह सदैव दुःखी ही बना रहेगा। वास्तव में सुख प्राप्त करने का उपाय अपनी आवश्यकताओं को घटाना और कम-से-कम में तृप्त हो जाना है। 'सन्तोष' का नियम ही सुख का मूल है।

जीवन में कठिनाइयों और संघर्षों का आना अनिवार्य है। अपना अस्तित्व स्थिर रखने और सम्मानपूर्ण जीवन बिताने के लिए दृढ़ता और सहिष्णुता की आवश्यकता है। यह गुण 'तप' से ही प्राप्त होते हैं। जो सदा आराम में ही रहना चाहता है और कठिनाइयों से सदा बचता रहता है, वह ऐसा अवसर आ जाने पर जरा भी नहीं टिक सकता और समय-प्रवाह में तिनके की तरह बह जाता है। इसलिए कठिनाइयों में भी टिके रहने और शान्त भाव से उनका स्वागत करने में ही हमारी प्रगति का मूलमन्त्र छिपा हुआ है।

सांसारिक जीवन की सफलता के लिए अन्य बातों की तरह ज्ञान की भी अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। ज्ञानहीन को पग-पग पर ठोकर खानी पड़ती है और अनेक बार सामने आये सुयोग को भी खो देना पड़ता है। इसके लिए आवश्यक है कि जिस प्रकार अपनी

परिस्थितियों में संभव हो ज्ञान प्राप्ति का अधिक से अधिक प्रयत्न किया जाय। इसका सरल और उपयोगी मार्ग संसार के सद्ग्रन्थों में एकत्रित ज्ञान को नियमित 'स्वाध्याय' द्वारा प्राप्त करना ही है। अनुभव भी ज्ञान प्राप्ति का एक श्रेष्ठ मार्ग माना गया है, पर वर्तमान समय में जीवन ऐसा बहुमुखी हो गया है कि सब प्रकार का अनुभवजन्य ज्ञान प्राप्त कर सकना असंभव है। इसलिए हमको अन्य महापुरुषों और विद्वानों के अनुभव से भी लाभ उठाना चाहिये और उसे आत्मोन्नति के लिए उपयोग में लाना चाहिये।

नियमों में बतलाये चारों साधन शारीरिक और मानसिक दृष्टि से प्रगति करने के लिए बहुत उपयोगी हैं और उनका पालन करने वाला अपने जीवन को अवश्य सफल बना सकता है। फिर भी यह याद रखना चाहिए कि संसार में मनुष्य की हस्ती और उसका प्रयत्न नगण्य है। वह अपने कर्तव्य का पालन अवश्य करे, अपने अधिकारों की रक्षा भी करे, पर साथ ही यह भी स्मरण रखे कि इस संसार का संचालन और नियमन ईश्वर के हाथ में है। वही सबके हित और अनहित, भाग्य और दुर्भाग्य को अच्छी तरह समझता है और जो कुछ करता है, हमारे कल्याण के लिये ही करता है। इसलिए उचित रीति से प्रयत्न करने तथा कर्तव्य पालन करते हुए भी सफलता न मिले, आकस्मिक कठिनाई का सामना करना पड़े तो हमको घबराहट और व्याकुलता में न पड़कर 'ईश्वर की कृपा' पर भरोसा रखना चाहिये कि उसने जो कुछ हमारे लिये किया, वह बहुत अच्छा ही किया, चाहे हम उसे अपने सीमित ज्ञान द्वारा समझ सकने में समर्थ न हों।

इस दृष्टि से देखने पर योग-दर्शन में वर्णित यम नियम जीवन के ऐसे स्वर्ण सूत्र हैं जिनका पालन करना हमारा सर्व प्रथम कर्तव्य है और जिनके द्वारा ही हम 'मानव' बनने के अधिकारी हो सकते हैं। योग-दर्शनकार ने स्वयं ही इनकी बड़ी प्रशंसा की है और इन के यथोचित

पालन करने से बड़ी-बड़ी सिद्धियों की प्राप्ति संभव बतलाई है। नियमों में अन्तिम तीन-तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान उन्होंने 'साधन-पाद' के पहले ही सूत्र में 'क्रिया योग' या 'कर्म योग' का नाम दिया है—

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः ॥२-१॥

अर्थात्—"तप, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति—ये तीनों क्रिया योग हैं।" इससे आगे दूसरे सूत्र में कहा है कि "यह क्रिया योग समाधि की सिद्धि करने वाला और अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करने वाला है।" इस प्रकार समस्त अष्टांग योग-साधन का जो फल—'समाधि-अवस्था' की प्राप्ति माना गया है, वह तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान द्वारा ही प्राप्त हो सकता है बशर्ते कि हम इनको सच्चे मन से पूर्ण रूप में पालन कर सकें।

विश्व बन्धुत्व की भावना—

जैसा हमने ऊपर कहा है 'यम' वे नियम हैं जो मानव-समाज के अस्तित्व और विकास की दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी हैं। इसलिये केवल योग-साधन के निमित्त ही नहीं सभी मनुष्यों द्वारा सभी अवस्थाओं में उनका पालन किया जाना कल्याणकारी है। यह बात योग दर्शन में स्पष्ट भी कर दी गई है—

जाति देशकाल समयावाच्छिन्नाः सार्वभौम महाव्रतम्।२-१।

एक विद्वान् टीकाकार के मतानुसार इसका आशय यह है कि 'यम' के रूप में जिन व्रतों के पालन करने का उपदेश दिया गया है, वे केवल थोड़े से साधकों के लिये आवश्यकीय नहीं हैं वरन् मनुष्य मात्र के लिये उनका पालन करना उचित और हितकारी है और इस दृष्टि से वे सार्वभौम महाव्रत हैं। आगे चलकर उक्त विद्वान कहते है—

"यमों का सम्बन्ध केवल व्यक्तियों से नहीं है परन्तु, सारे मनुष्य समाज से है, इसलिये सारे मनुष्य इनका पालन करने में समष्टि रूप

परतन्त्र हैं। कोई मनुष्य चाहे वह किसी जाति, देश, काल, अवस्था, वर्णाश्रम, मतमतान्तर का क्यों न हो, यदि उसे मनुष्य-समाज में रहना है, तो उसके लिये ये यम सर्वदा माननीय और पालनीय हैं। संसार में इस समय फैली हुई भयंकर अशान्ति के नाश का केवल मात्र उपाय यमों का यथार्थ रूप से पालन करना है। इनके पालन से ही संसार की व्यवस्था ठीक रह सकती है।"

कुतर्की लोग ऐसे महाव्रतों के महत्व के सम्बन्ध में तरह-तरह की शंकायें उठाया करते हैं जैसे यदि सभी लोग अहिंसा का पालन करने लग जायें तो शासन-कार्य कैसे चल सकेगा? दुष्ट और आततायियों को दुष्कर्मों से कैसे रोका जा सकेगा? यदि सब लोग ब्रह्मचारी बन जायें तो सन्तानोत्पत्ति कैसे होगी? सृष्टि कैसे स्थिर रहेगी? इस प्रकार की शंकाओं और कुतर्कों का कारण नासमझी ही है। जो व्यक्ति शुद्ध भाव से अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है, उसके सामने इस प्रकार की मिथ्या ज्ञान की बातें कभी उपस्थित नहीं होतीं। भगवान कृष्ण ने गीता में यम-नियम पालन का उपदेश दिया है और साथ ही अर्जुन को लड़ने की आज्ञा भी दी है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

अर्थात्—"स्वधर्म को समझ कर भी तुझे लड़ने से हिचकिचाना उचित नहीं है, क्योंकि धर्म-युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिये और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।"

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला यदि युवावस्था तक पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत करके इन्द्रियों को वश में रखने का अभ्यास कर लेता है तो फिर उसके द्वारा किसी प्रकार का सामाजिक अनाचार फैलने का भय नहीं रहता। उसके पश्चात् यदि वह धर्मशास्त्र के

नियमानुसार विवाहित होकर गृहस्थ-धर्म का पालन करता है और सन्तानोत्पादन के निमित्त अपनी धर्मपत्नी से सहवास करता है तो उसे कोई हानिकारक नहीं कहता। ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ही माना जाता है और वह समाज की सुव्यवस्था, पवित्रता को स्थिर रखने में सहायक सिद्ध होता है।

अपरिग्रह के समझने में भी लोग इसी प्रकार भूल किया करते हैं। वे कहते हैं कि जब सब लोग त्यागी बन जायेंगे तो राष्ट्र की सम्पत्ति और समृद्धि किस प्रकार बढ़ेगी ? परन्तु अपरिग्रह का अर्थ जीवनोपयोगी वस्तुओं का उचित परिमाण में भी प्राप्त न करना नहीं है, वरन् अपनी आवश्यकता से बढ़कर केवल लालच, लालसा या हीन स्वार्थ भावना से सब प्रकार की वस्तुओं और सम्पत्ति को अधिक से अधिक संग्रह कर लेने की भावना ही 'परिग्रह' में आती है। ऐसी मनोवृत्ति से राष्ट्र की सम्पत्ति और समृद्धि बढ़ नहीं सकती, वरन् इससे लोगों में असन्तोष की वृद्धि होती है और सर्वत्र अभाव, दरिद्रता का दृश्य दिखाई पड़ने लगता है। संसार की वर्तमान अवस्था इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। जबकि एक तरफ तो ज्ञान-विज्ञान के प्रयोग से पैदावार मनमानी बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर असंख्य व्यक्ति दरिद्रता के पाश में पड़े आर्तनाद कर रहे हैं। एक ओर करोड़ों मन अन्न गोदामों में बन्द पड़ा रहकर खराब हो जाता है और दूसरी ओर अनगिनत लोग भूखे रहकर या अधूरे भोजन से काम चलाते हैं। एक ओर कारखानों में कपड़ों के रखने के लिये स्थान नहीं मिलता और इसीलिये मशीनों को बन्द कर देना पड़ता है और दूसरी ओर लाखों-करोड़ों स्त्री पुरुषों को मैले कुचैले चिथड़े लपेट कर काम चलाना पड़ता है। यह सब अपरिग्रह के पालन न करने का ही परिणाम है।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि समाज के सुखी और समुन्नत होने का आधार इन पंच महाव्रतों पर ही है। इसीलिये प्राचीन भारतीय

महर्षियों ने इनको धर्म का रूप दिया था और कहा था कि जो धर्म का पालन करेगा, वही अभ्युदय और मुक्ति का अधिकारी बन सकेगा। जिस समाज या देश में लोग इन व्रतों के विपरीत आचरण करते हैं, वे कभी सुख और शान्ति से नहीं रह सकते, चाहे उनको कितनी भी सम्पत्ति और वैभव क्यों न प्राप्त हो जाय। ऐसे लोग सदा अभावों का ही अनुभव करते रहेंगे और छीना-झपटी, प्रतिस्पर्धा, द्वेष, मारकाट आदि के फलस्वरूप अस्थिर, अशान्त और भय का निकृष्ट जीवन ही व्यतीत करने को बाध्य होंगे। इसलिये योग-दर्शन में यमों को 'सार्वभौम महाव्रत' कहना सर्वथा उपयुक्त और कल्याणकारी मार्ग-दर्शन है। यही विश्व-बन्धुत्व की ओर विश्व-शान्ति की स्थापना का सच्चा आधार हो सकता है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा की श्रेष्ठता

योग दर्शन की एक विशेषता यह भी है कि एक गूढ़ विद्या का प्रकाशक माना जाने पर भी उसमें अन्ध-श्रद्धा और शब्द-प्रमाण को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया है वरन् प्रत्यक्ष अनुभव और ज्ञान को ही सबसे बढ़कर माना गया है। समस्त योग सम्बन्धी साधनाओं का फल चार प्रकार की समाधि होता है और समाधि का फल ऋतम्भरा प्रज्ञा बतलाया गया है, जैसा समाधि-पद के ४८वें सूत्र में कहा है—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।।१-४८।।

इसके पहले बतलाया गया है कि १—सवितर्क, २—निर्वितर्क ३—सविकार, ४—निर्विकार, इन चारों प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधियों के परिणाम स्वरूप "अध्यात्म प्रसाद" अथवा निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है। उसी निर्मल ज्ञान से मनुष्य में ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है, जिसे हम 'सत्य' का उत्कृष्ट रूप समझ सकते हैं, जैसा कि अगले सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है—

श्रुतानुमाप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥१-४९॥

अर्थात् आगम (वेद, शास्त्र आदि) और अनुमान की प्रज्ञा से ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय अलग है, क्योंकि इसके द्वारा अर्थ का विशेष रूप से साक्षात्कार होता है।

ग्रन्थों और उपदेशों द्वारा मनुष्य संसार और उसके पदार्थों का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञान पूर्ण नहीं होता और न निर्भ्रान्त होता है क्योंकि संसार में प्रत्येक व्यक्ति में कुछ निजी विशेषतायें भी होती हैं। तीनों गुणों के तारतम्य से सबकी प्रकृति में थोड़ा बहुत अन्तर रहता है इसलिये एक-सा व्यवहार या एक ही उपाय सबके ऊपर एक-सा प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता। जो दवायें उपयोगी और प्रभावशाली होने का ध्यान रखकर बनाई जाती हैं, वे भी प्रत्येक रोगी पर एक-सा प्रभाव प्रकट नहीं करतीं। जो वैद्य रोगी की स्थिति और प्रकृति को समझ कर ठीक दवा का उचित मात्रा में प्रयोग करना जानता है, वही सफल होता है। अन्यथा मामूली आदमी पुस्तक में दवाओं के गुण पढ़कर एक के बाद दूसरी दवा का सेवन करते रहते हैं, और उसका कोई लाभ देखने में नहीं मिलता। इस प्रकार सभी शिक्षक विद्यार्थियों को पाठ्य पुस्तकों में लिखी बातों का अर्थ और व्याख्या बतला कर समझा देते हैं, पर उससे सब विद्यार्थी एक समान लाभ उठा नहीं पाते। पर जो शिक्षक विद्यार्थी की विशेष प्रकृति और बुद्धि के स्तर को समझ कर उसके अनुकूल विशेष ढंग से समझाता है तो वह कम समझने वाले को भी पढ़ाने से सफल हो जाता है।

इसी प्रकार के सब तरह के भौतिक और आध्यात्मिक विषयों में जो कार्य क्रियात्मक तथा स्वानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान द्वारा सिद्ध हो सकता है, वह केवल पुस्तकों अथवा श्रवण किये ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। यह सत्य है कि जगत के विस्तार और विभिन्नता को देखते हुये मनुष्य का जीवन अल्प है और सब विषयों का प्रत्यक्ष और यथार्थ ज्ञान वह

प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए उसे दूसरों द्वारा अर्जित ज्ञान से अपनी जानकारी को बढ़ाना और उससे लाभ उठाना आवश्यक होता है। पर ऐसा ज्ञान भी अनेक प्रकार का और विभिन्न श्रेणियों का होता है। जिस मनुष्य ने ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है अर्थात् जो प्रत्येक वस्तु और घटना पर अपनी रुचि और स्वार्थ का भाव छोड़कर यथार्थ रूप में विचार करना जानता है, वही ग्रन्थों तथा उपदेशों में दिये जाने वाले विविध प्रकार के और परस्पर में अन्तर रखने वाले ज्ञान से भी लाभ उठा सकता है। अन्यथा जैसा हम आजकल देखते हैं कि लोग अनेक शास्त्रों, धर्मग्रन्थों को पढ़ डालते हैं, अनेक विद्वानों से प्रवचन सुन लेते हैं, पर तो भी न तो वे किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं और न उस ज्ञान से कुछ लाभ उठाते हैं, वरन् प्रायः यही कहते सुने जाते हैं कि न मालूम इन बातों में से किसकी बात सत्य है? सुनने में तो सब की बातें युक्तियुक्त और लाभदायक जान पड़ती हैं, पर एक तो भगवान की पूजा और उपासना करते हुये, भक्ति से उद्धार होने की शिक्षा दे रहा है और दूसरा ऐसे भजन-पूजन को निरर्थक बतलाकर, आत्मध्यान को ही मुक्ति का मार्ग बतला रहा है, तीसरा नित्य और नैमित्तक हवन, यज्ञ से सद्गति हो सकने का दावा कर रहा है। ऐसी दशा में हम किसकी बात ठीक मानें और किसके अनुसार आचरण करें?

पर जिस व्यक्ति ने सत्य-मार्ग पर चल कर, ऋतम्भरा प्रज्ञा के दर्शन किये हैं, उसे ऐसी कोई उलझन नहीं जान पड़ती वह तुरन्त समझ लेता है कि इन तीनों की ही बातें ठीक और उपयोगी हैं। केवल विचार यह करना है कि विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति, रुचि, सामर्थ्य, परिस्थिति को देखते हुये कौन सा मार्ग उसके अनुकूल और लाभदायक सिद्ध हो सकेगा। जिस प्रकार एक स्थान को तीन-चार मार्गों द्वारा पहुँचा जा सकता है, जिनमें से एक में बाजार की भीड़भाड़ अधिक पड़ती है, दूसरे में रास्ता सुनसान मिलता है, तीसरे में सड़क नजदीक होने पर भी

रास्ता ऊबड़-खाबड़ और चढ़ाई उतराई का है। ये सभी रास्ते हमको गन्तव्य स्थान तक पहुंचा देते हैं, पर उनका चुनाव परिस्थिति के अनुसार करना ही उचित होता है। यदि पथिक निर्बल और भयभीत प्रकृति का है या किसी प्रकार से कुसमय है तो उसे बाजार के मार्ग से जाना ही ठीक रहेगा। यदि मोटर या तेज सवारी से जाना है तो सुनसान रास्ता अधिक उपयुक्त रहेगा। यदि मनुष्य के पास कोई जोखिम नहीं है और साहसी है तो नजदीक का ऊबड़-खाबड़ मार्ग ही सबसे अच्छा रहेगा। पर इसका निर्णय वही आदमी कर सकता है, जिसकी बुद्धि निर्मल और स्थिर है पर जो केवल सुनी सुनाई बातों से काम चलाता है और जिसके विचारों में स्थिरता तथा दृढ़ता नहीं है, वह ऐसे मामले में गलत सम्मति ही देगा।

इससे आगे के सूत्र में योग-दर्शनकार ने यह भी कहा है कि "उस ऋतम्भरा प्रज्ञा का संस्कार अन्य तब व्युत्थान-संस्कारों का बाधक (रोकने वाला) होता है।" व्युत्थान कहते हैं—अपूर्ण ज्ञान से उत्पन्न संस्कारों को। ऐसी दशा में मनुष्य के विचारों और संकल्प में अस्थिरता रहती है, वह कभी एक बात को लाभदायक समझता है और कभी दूसरी को। उसका मन संशयपूर्ण बना रहता है। पर जैसे-जैसे बुद्धि स्थिर और निर्मल होती जाती है, वैसे ही व्युत्थान-संस्कार दूर होते जाते हैं और मनुष्य अपने कर्त्तव्य और धर्म को स्पष्ट रूप से देख और समझ सकता है। इसलिये चाहे समाधि-योग का विषय हो और चाहे सांसारिक जीवन का संचालन करना हो, मनुष्य में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का होना ही सबसे अधिक कल्याणकारी है। उसी के द्वारा वह तरह-तरह के धार्मिक सिद्धान्तों, सम्प्रदायों तथा ग्रन्थों के परस्पर विरोधी उपदेशों में से अपने लिये सत्य मार्ग, कल्याणकारी साधन का निर्णय कर सकता है।

योग मार्ग और सिद्धियां—

योग-साधन में सिद्धियों का वर्णन एक बड़ा विवादास्पद विषय

है। यद्यपि सभी शास्त्रों और महापुरुषों ने सिद्धियों को जघन्य तथा मोक्ष-मार्ग में विघ्न रूप माना है, फिर भी उनका वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है और कहीं-कहीं उनकी प्रशंसा भी मिलती है। साधारण लोग तो सदा से उन पर विश्वास रखते आये हैं और उनकी समझ में वास्तविक योगी वही है जो अपनी सिद्धियों के बल से असम्भव समझे जाने वाले कामों को करके दिखा दे। स्वयम् पातंजलि योग-दर्शन में ही सिद्धियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है और उनके सम्बन्ध में दो प्रकार के अभिमत प्रकट किये गये हैं—

ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने सिद्धियाः ॥३७॥
तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥

इनमें से पहले सूत्र में कहा गया है कि "सिद्धियाँ समाधि अवस्था की प्राप्ति में विघ्न स्वरूप हैं और व्युत्थान अवस्था (जाग्रत) में सिद्धि है।" अर्थात् योग-साधन का जो अन्तिम लक्ष्य असम्प्रज्ञात अथवा निर्जीव समाधि है, उसमें तो यह सिद्धियां उपसर्ग रूप प्रमाणित होती हैं, पर इतना उपयोग अवश्य है कि इनकी प्राप्ति में योग-मार्ग में अग्रसर होते हुये योगी का उत्साह बढ़ सकता है, साथ ही ये उसके लिये एक सनद की तरह है।

पातंजल-दर्शन के तीसरे 'विभूति-पाद' में लगभग तीस सिद्धियों का वर्णन किया गया है। इनमें किसी के द्वारा हाथी का बल प्राप्त होता है, किसी के द्वारा भूख-प्यास जीत ली जाती है, किसी से लोकों, नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, किसी से वह आकाश में उड़ने लगता है, किसी से दिव्य श्रवण और दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, आदि-आदि। अन्तिम सिद्धि से 'विवेक-ख्याति' स्थिति की प्राप्ति होती है जिससे योगी सर्वज्ञ बनकर सब कालों और सब देशों की बातों का ज्ञान तुरन्त कर लेता है। पर फिर भी महामुनि पतंजलि ने यही कहा है— 'इन

सिद्धियों से वैराग्य द्वारा मन हटा लेने पर दोषों का बीज नाश होकर कैवल्य की प्राप्ति होती है।"

यद्यपि पतंजलि ने योग-मार्ग में लोगों की श्रद्धा और विश्वास की दृढ़ता के लिये 'योग-दर्शन' में सिद्धियों का वर्णन अवश्य किया है, पर साथ ही यह भी चेतावनी दे दी है कि इनको अधिक महत्व देना या अहंकार में आकर इनका प्रदर्शन करते फिरना कदापि उचित नहीं। इससे योगी का पतन भी होगा और योग-भ्रष्ट श्रेणी में गिना जायगा। सैंतीसवें सूत्र में जो यह कहा गया है कि इन सिद्धियों से सम्प्रज्ञात अवस्था में सहायता मिल सकती है, वह भी अस्पष्ट-सी ही बात है। इस सम्बन्ध में एक जर्मन विद्वान डा० आटो श्राडर ने एक लेख में निम्न सम्मति प्रकट की है।

"योग-दर्शन के सूत्रों से तो इस सम्बन्ध में कुछ पता नहीं लगता कि सिद्धियों से योगी को क्या सहायता मिलती है? हाँ व्यास जी ने अपने भाष्य में इतना संकेत किया है कि ज्ञान की भाँति समाधिजन्य ऐश्वर्य (अर्थात् सिद्धियाँ) सत्व शुद्धि (अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि का कारण) होती है।" इससे हम इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि कदाचित उपर्युक्त आकाश-गमन आदि सिद्धियों के प्राप्त हो जाने पर योगी को ऐसा अनुभव होने लगता हो कि मैं प्रकृति से मुक्त हो गया अथवा मैंने प्रकृति पर जय प्राप्त कर ली। इससे सम्भवतः उसका देहाभिमान कम हो जाता है। यह सब होने पर भी कैवल्य की प्राप्ति में सिद्धियों की आवश्यकता नहीं है और वे योगाभ्यास से भी मिलती हों, ऐसी बात भी नहीं है। 'योग-दर्शन' के अनुसार ही उनमें से कुछ जन्मजातरूप से भी प्राप्त हो सकती हैं, अथवा औषधि-प्रयोग, मन्त्र-बल अथवा तपोबल से भी प्राप्त हो सकती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी सिद्धि प्राप्त पुरुष महात्मा ही हों यह आवश्यक नहीं है, बल्कि उनमें कुछ धूर्त भी हो सकते हैं।

डाँ० ग्राडर ने लिखा है कि बौद्ध धर्म में भी ऐसी सिद्धियों का बहुत वर्णन है, पर भगवान बुद्ध ने सदा उनका निषेध किया था और एक शिष्य की इसी कारण भर्त्सना की थी क्योंकि उसने नगर के बीच ऐसी सिद्धि दिखाकर लोगों पर प्रभाव डाला था। बाद में जब बौद्ध साधुओं में सिद्धियों को जोर बढ़ गया तो उस धर्म का घोर पतन भी हो गया। इसलिये सिद्धियों को अधिक महत्व देना या उनकी तरफ आकर्षित होना कदापि कल्याणकारी नहीं है।

योग मानव जाति का उद्धारकर्ता है—

साधारण लोग जो योग को एक गूढ़ और रहस्यमय साधना समझा करते हैं और उनका उद्देश्य तरह-तरह की चमत्कारी और अतीन्द्रिय शक्तियाँ प्राप्त कर लेना मानते हैं, वे वास्तव में 'योग' के यथार्थ तत्व से अनजान ही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि योग साधन से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास होता है, उनकी यहाँ तक वृद्धि की जा सकती है कि साधारणतः उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता, पर 'योग' का वास्तविक लक्ष्य या उसकी उपयोगिता इससे कहीं बढ़कर है। योग-साधन द्वारा मनुष्य को शरीर के विभिन्न अंगों तथा इन्द्रियों के कार्य, मन की विविध वृत्तियों और आत्मा की सूक्ष्म शक्तियों तथा उसके स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभवजन्य ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान मानव-जीवन को सरल, सत्य और सद्गुणमय बनाने में बहुत सहायक होता है और इसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् मनुष्य निम्न कोटि के स्वार्थ के ऊपर उठ जाता है और अपने व्यवहार में छल, कपट, असत्य, हिंसा, निर्दयता, चोरी, बेईमानी जैसी बातों का समावेश न होने देने के लिये सावधान रहता है। इस सम्बन्ध में विवेचन करते हुये एक विद्वान ने बहुत ठीक कहा है—

"शरीर से आत्मा की पृथकता के सिद्धान्त का अज्ञान और दृढ़ विश्वास का अभाव ही संसार की सब बुराइयों का परम कारण है। यदि

कभी हमारी शंकाओं का समाधान हो भी जाता है तो भी वे बार-बार आती हैं और हमें घेरे रहती हैं। ऐसी परिस्थिति में तभी मनुष्य अविचल, सत्यव्रती, और अनासक्त हो सकता है, जब वह इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है और उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मेरे अन्तस में आत्मा का निवास है और वह शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न है। यदि सब मनुष्य यह ज्ञान प्रात कर लें तो संसार का उद्धार हो जायगा।"

यद्यपि शरीर और आत्मा की पृथकता का उपदेश सभी धर्मशास्त्रों और महापुरुषों ने दिया है, और अन्य देशों के धर्म संस्थापकों तथा प्रचारकों ने भी इस सचाई को स्वीकार करके अपने अनुयाइयों को इसकी शिक्षा दी है, पर यह ज्ञान कथन मात्र से दृढ़ नहीं हो पाता। समझाने बुझाने या तर्क वितर्कों से वह इसे किसी प्रकार मान लेता है, पर थोड़ी देर में अन्य भाव उत्पन्न हो जाने से वह फिर दूसरी तरफ बह जाता है। इसलिये आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता के सिद्धांत को हृदयंगम करने के लिये ऐसे क्रियात्मक साधन की आवश्यकता होती है जिससे यह ज्ञान शब्द मात्र न रहकर अनुभव का विषय बन जाय और मनुष्य उस पर निरन्तर डटा रह सके। इसके लिये सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय योग-मार्ग ही है जिसकी विवेचना करते हुये उक्त विद्वान ने कहा है—

"अपने अन्तर्निहित आत्मा का शरीर से भिन्न रूप में साक्षात्कार करने के लिये मन और आत्मा पर उचित नियन्त्रण होना आवश्यक है। इसके लिये हमारी बुद्धि विकारों तथा कामनाजन्य मोह से मुक्त होनी ही चाहिये। निरन्तर सावधान रहने से मन और इन्द्रियों पर ज्ञान का नियन्त्रण हो सकना सम्भव होता है। इसी स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न 'योग' कहलाता है। यह नाम तो अक्सर लिया जाता है पर इसके अर्थ बहुत गलत लगाये जाते हैं यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो हम अपने अन्तर्निहित आत्मा को देख सकते हैं। आत्म-संयम और आन्तरिक शान्ति से उत्पन्न होने वाली इस स्थिति को सावधानी से कायम रखने की

आवश्यकता होती है। 'योग' कहलाने वाली मन की यह स्थिति सूर्योदय और सूर्यास्त के समान बार-बार उदित और अस्तगत होती है। योग का मार्ग निरन्तर साधना तथा अखण्ड सतर्कता का है, अन्यथा हम फिर पहली अवस्था में पहुँच जाते हैं और हमारी आत्मा शरीर में खो जाती है।"

योग-दर्शन में अष्टाङ्गयोग के सर्व प्रथम अंग 'यम' के सार्वभौम होने की जो घोषणा की है, वह उपर्युक्त कथन से भी सिद्ध होती है। वास्तव में जब तक मनुष्य भौतिक जगत को ही सब कुछ मानकर शरीर को ही विविध भोगों द्वारा सन्तुष्ट करने में लगा रहेगा, तब तक वह कदापि दु:खों से छुटकारा नहीं पा सकता, न सच्चे सुख का अनुभव कर सकता है। ऐसे भोगजन्य सुख को प्राप्त करने में वह अवश्य ही अन्य मनुष्यों से टकरायेगा क्योंकि भोग के साधन सीमित हैं और भोग वृत्ति वाले व्यक्ति में संकीर्णता की स्वार्थ भावना का प्रबल होना अवश्यम्भावी है। इसलिये जब मनुष्य योग द्वारा आत्मा की पृथकता और प्रधानता को हृदयंगम कर लेगा तभी वह शान्ति, संतोष, न्याय, सत्य के अनुसार व्यवहार और आचरण कर सकता है और संसार की अवस्था का सुधार हो सकता है।

योग शक्ति से जीवन की सफलता—

अनेक लोग यह शंका प्रकट किया करते हैं कि सांसारिक जीवन को सुविधापूर्वक व्यतीत करने के लिये या गृहस्थ-धर्म का सरल भाव से पालन करने के लिये योगाभ्यास की क्या आवश्यकता है ? अनेक लोग इसे संसारत्यागी और पर्वत जंगलों में रहने वाले तपस्वियों या वैरागियों का ही मार्ग समझते हैं, पर इस प्रकार की बातें अज्ञान अथवा भ्रम के कारण ही उत्पन्न होती हैं। धर्माचरण का उपदेश तो सभी शास्त्रों में दिया गया है। सब सज्जन पुरुष भी उसी की शिक्षा दिया करते हैं, पर प्रकृति की विभिन्नतावश उनके कथनों और विधियों में तरह-तरह के अन्तर मतभेद दिखाई पड़ते हैं। इससे सामान्य-जन सन्देह में पड़ जाता है

और अपने लिये उपयोगी तथा अनुकूल मार्ग का निर्णय नहीं कर पाता। योग की विधियों द्वारा अपनी मानसिक और बौद्धिक शक्ति का विकास करके मनुष्य ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेता है जिससे वह सही और गलत का, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय शीघ्र कर सकता है। एक विद्वान ने योग शक्ति की उपयोगिता प्रकट करते हुये यथार्थ लिखा है—

"हम योग से परमात्मा के वास्तविक रूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इससे हम प्रकृति और उसके विकारों को यथार्थ रूप में देखने योग्य हो सकते हैं। अभी तो हमें यही पता नहीं कि मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है ? इसका पता भी योग ही से लगेगा। संसार में एक से एक शक्तिशाली और विद्वान पड़े हैं। उनमें से एक सुचतुर वाग्मी(वक्ता)तर्क युक्तियों से हमें आज जो सिद्धान्त समझा गया, कल उससे भी कोई अधिक विद्वान बड़ी-बड़ी दलीलें देकर विपरीत बोध करा गया, फिर तीसरा आकर कुछ अन्य निश्चय करा गया। इससे हमारा बुद्धिभेद कम होने के बजाय और बढ़ता जाता है। ऐसी अस्थिर बुद्धि ही गीता के कथनानुसार मनुष्य को नष्ट करने वाली है। योग ऐसी कर्त्तव्याकर्त्तव्या-विमर्श शन्य बुद्धि को कर्त्तव्य का बोध कराके भ्रान्त होने से रोक देगा। योग उस अस्थिर और चंचल बुद्धि को पर्वत से अधिक गम्भीर बना देने वाला एकमात्र साधन है। विवाद अथवा झगड़ा तो दुराग्रह अथवा वस्तु के असली रूप को न जानने से होता है। सब मत-मतान्तरों के विवाद उस समय अपने आप मिट जायेंगे जब वे योग-महिमा द्वारा धर्म के असली स्वरूप को स्पष्ट करके पहचान जायेंगे। योग का प्रधान उद्देश्य ही यह है कि वह प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को प्रत्यक्ष करदे।"

व्यक्तिगत विकास और उन्नति की दृष्टि से तो योग का महत्व प्रकट ही है। योग से सब प्रकार की शारीरिक और मानसिक शक्तियों की वृद्धि इच्छानुसार हो सकती हैं और फिर उन्हीं के द्वारा तरह-तरह के सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति अधिक उत्तम रीति से और सहज में हो सकती

संभव हो जाती है। अनेक ऐसे उदाहरण सुनने और देखने में आये हैं कि जो मन्दबुद्धि लड़के पढ़ने लिखने में बहुत पिछड़े हुये थे, वे किसी सामान्य योग की विधि का अभ्यास करके अपनी बुद्धि को आश्चर्यजनक रूप से विकसित करने में समर्थ हो गये। इतना ही नहीं हम यहां तक कह सकते हैं कि संसार में जितने प्रसिद्ध पुरुष हुये हैं, जिन्होंने कोई महान् कार्य करके जगत में अपना नाम स्थिर किया है, वे किसी न किसी दृष्टि से योगी थे। यह संभव है कि उन्होंने योग और उसकी विधियों का कभी नाम भी न सुना हो पर संस्कारवश या शिक्षा के द्वारा उन्होंने अपनी मानसिक शक्तियों को एकाग्र करके एक लक्ष्य पर केन्द्रित करने की विधि का अभ्यास अवश्य किया था और इसी से वे अपने जीवन कार्यों में सफलता प्राप्त करने में समर्थ हुये थे। योग शास्त्र में कहा है—

लघुत्वमारोग्य लोलुपत्व वर्णं प्रसादः स्वरसौष्ठव च।
गन्ध शुभो-मूत्रपुरीषमल्प योग प्रवृति प्रथमां वदन्ति ॥
न तस्य रोगो न जरा न दुःख प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

सांसारिक कार्यों में सबसे ज्यादा विघ्न आलस्य है। योगाभ्यास द्वारा शरीर मल रहित होकर हल्का हो जाता है, स्वस्थ रहता है, विषय-वासना संयमित हो जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर में माधुर्य आ जाता है। ये सब योग के आरम्भिक लाभ हैं। योगी पर रोग, बुढ़ापा, कष्टों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। ये ही सब जीवन की सफलता के साधन हैं। जो इन विशेषताओं को प्राप्त कर लेगा, वह सहज में ऊँचे से ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

प्राचीन धर्म ग्रन्थों में योग का महत्व

योग-मार्ग को भारतीय संस्कृति में जो असाधारण महत्व प्राप्त हुआ है, उसके मूलाधार का अन्वेषण करते हुये विदित होता है कि योग आर्य जाति की अति प्राचीन साधन-प्रणाली है। प्रत्येक युग में

प्रत्येक महामानव ने इसी साधन का आश्रय लेकर वे चिरस्मरणीय कार्य करके दिखाये जिनकी गाथा प्राचीन ग्रन्थों में पढ़कर हम अपने जीवन [illegible] प्राप्त करते और चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने में प्रवृत्त होते हैं। यह सत्य है कि योग-साधन को सुव्यवस्थित और सर्व सुलभ रूप देने का श्रेय महर्षि पतंजलि को ही प्राप्त है, पर योग-मार्ग का उल्लेख हमको वेदों से लेकर तुलसी रचित 'राम-चरित मानस' तक में स्पष्ट रूप से मिलता है। कारण यही है कि योग-साधन ही एक ऐसा उपाय है जिससे मनुष्य अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को पूर्ण विकसित करके उनको लौकिक और पारलौकिक महान उद्देश्यों की पूर्ति में प्रयुक्त कर सकता है। यों परमात्मा और प्रकृति ने सभी जीवात्माओं को अभूतपूर्व शक्तियाँ प्रदान की हैं जिनके द्वारा मनुष्य सांसारिक वैभव और सम्पदा ही प्राप्त नहीं कर सकता, वरन् स्वर्ग और ब्रह्मलोक के दिव्य ऐश्वर्य का स्वामी भी बन सकता है, पर उनका लाभ वही उठा सकता है जो उनको विकसित करके विधि पूर्वक उनके प्रयोग की विधि सीख लेता है। पृथ्वी में कोयला, शोरा, गन्धक हर जगह बिखरे पड़े हैं पर जो उनका सम्मिश्रण करके बारूद बनाने की विधि जानता है वही उनके द्वारा बलवान शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। एक महान शक्ति संसार के प्रत्येक अणु में व्याप्त है पर जब तक किसी कर्मयोगी ने उसको वश में लाकर 'अणुबम' के रूप में योजित नहीं किया, तब तक उसकी महत्ता किसी ने स्वीकार नहीं की। योग-विद्या एक ऐसी ही शक्ति का महास्रोत है जिसे प्राप्त करके मनुष्य असंभव समझे जाने वाले कार्यों को भी चुटकी बजाते-बजाते पूरा कर डालता है। यही कारण है कि प्राचीन काल के सभी महान विचारकों ने उसके महत्व को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया था और अपने अनुयाइयों को उसकी शिक्षा दी थी। आगे चलकर हम दिखलायेंगे कि प्रमुख भारतीय धर्म ग्रन्थों में योग की महिमा का किन शब्दों में गुण-गान किया गया है।

वेद और उपनिषदों में योग--

वेद और उपनिषद् भारतीय संस्कृति के मूल आधार हैं और इन्हीं के प्रभाव से आज भी संसार में भारतवर्ष को अपूर्व सम्मान प्राप्त होता है। हिन्दू धर्म का तो सम्पूर्ण भवन ही वेदों की भित्ति पर खड़ा है और जितने भी दर्शन, स्मृत्तियां, पुराण आदि रचे गये, सब वेदों के मन्तव्य को लेकर ही अग्रसर हुये और सब ने वेदों को ही प्रमाण माना। इस लिये योग का विषय भी वेद से बाहर नहीं है और योग का मूल स्वरूप बड़ी स्पष्टता के साथ किन्तु संक्षेप में वेदों और उपनिषदों में वर्णित है। तत्पश्चात् जिस प्रकार आचार्यों और विद्वानों ने सब शास्त्रों और विद्याओं का विस्तार किया और उनके ऊपर साङ्गोपाङ्ग विवेचन युक्त ग्रन्थ बनाये, उसी प्रकार योग पर भी समयानुकूल परिस्थिति के अनुसार छोटे-बड़े अनेक उपयोगी ग्रन्थों की रचना की गई।

योग की चर्चा चारों वेदों में अनेक स्थानों में पाई जाती है। ऋग्वेद में ही लिखा है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन स धीनां योग-मिन्वति।

अर्थात्—"योग के बिना विद्वान का भी कोई यज्ञ-कर्म सिद्ध नहीं होता, वह योग चित्त वृत्तियों का निरोध करना है।"

स घा नो योग आभुवत् स राये स पुर ध्याम्। गमद बाजेभिरास नः। (साम० उ० १-२-१०)

अर्थात्—"वही परमात्मा हमारी समाधि के लिये अभिमुख हो। वही विवेकख्यातिरूपी धन तथा अनन्त वस्तु विषयक होने से बहुविधि बुद्धि एवं ऋतम्भरा ज्ञान के उत्पादन निमित्त अनुकूल हो।"

क्व त्रीच का त्रिवृतो रथस्य क्व त्रयो बन्धुरो ये सनीलः।

कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञ नासत्योपयाथः ।

ऋग् (१।३४।६)

अर्थात्—"यह शरीर जो अग्नि, जल, पृथ्वी, इन तीनों भूतों से बना है, इसके नीचे के तीन चक्र (मूलाधार आदि) कहाँ हैं, ऊपर के तीन चक्र कहां हैं ? शिव शक्ति संगम रूप रास लीला का स्थल कुछ कुण्डलिनी भी कहां है ? हे अविनाशी पिता ! आपकी कृपा से मुझे यह सब ज्ञात हो जिससे मैं योग में संलग्न हो सकूँ ।"

उपनिषदों में तो योग का वर्णन पूर्ण विस्तार के साथ पाया जाता है । इनमें कई तो केवल योग के ही उपनिषद हैं जैसे योग चूडामणि उप, योग तत्वोपनिषद्, योग शिखोपनिषद्, अन्नपूर्णोपनिषद्, ध्यान विन्दूपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, योग कुन्डल्युपनिषद्, त्रिशिख, ब्राह्मणोपनिषद्, आदि । वैसे अधिकांश उपनिषदों में योग-साधन का थोड़ा बहुत उपदेश और विधान पाया ही जाता है । पर अनेक विद्वानों के मतानुसार इनमें से बहुसंख्यक उपनिषद् मध्यकाल की रचनायें हैं । श्री शंकराचार्य जी ने भी ११ उपनिषदों को ही प्राचीन तथा वैदिककालीन मान कर उन पर भाष्य किया था । इसलिये हम भी उन्हीं में से योग विषयक कुछ प्रमाण देना चाहते हैं जिनसे यह विदित हो सके कि पातंजल योगसूत्र तथा अन्यान्य योग ग्रन्थों से भी पहले योग-विद्या का ज्ञान फैल चुका था और ऋषि-मुनि तथा साधकगण उसका अभ्यास करके लाभ उठाते रहते थे । इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् का वर्णन अधिक प्राचीन और संक्षिप्त होने पर भी स्पष्ट है ।

यदा पञ्चव तिष्ठन्त ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टाति तामाहु परमां गतिम् ॥
तां योगमति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम ।
अप्रमत्तास्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

अर्थात्—"जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मन सहित आत्मा में स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती है, तब उस अवस्था को परमा गति करते हैं, उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणा को योग कहते हैं। उस अवस्था में साधन प्रमाद रहित होता है। उत्पत्ति और नाश योग ही हैं।"

श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो योग की विधियों का वड़ा उत्तम रूप में भली प्रकार समझाकर वर्णन किया है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य सम शरीरं,
हृदोन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य।
ब्रह्मोड्डुपेन प्रतरेत विद्वान्,
स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपोड्येह सयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेन
विद्वान मनो धारयेता प्रमत्तः॥
समे शुचौ शर्करावह्निवालुका,
विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने,
गुहानिवाता श्रीयर्ण प्रयोजयेत॥
[श्वेत० २।८।६।१

अर्थात्—"विद्वान साधक को चाहिये कि वह अपने सिर, कंठ और वक्ष को ऊँचा उठावे और शरीर को सीधा रखे। फिर मन के द्वारा इन्द्रियों का निरोध कर प्रणव रूप नौका में सब स्रोतों से पार हो जाय। विद्वान साधक का कर्त्तव्य है कि योग-साधन में रत होकर विधिवत् चेष्टायें करते हुये प्राणायाम विधि से प्राण के सूक्ष्म होने पर नासिका द्वारा उसे बाहर छोड़े। जैसे चतुर सारथी दुष्ट अश्वों वाले रथ को भी निर्दिष्ट

मार्ग से ले जाता है, वैसे ही सावधानी पूर्वक मन को वश में रखे। कंकड़, वालू और अग्नि से रहित शब्द, जल, आश्रय के अनुकूल, नेत्रों को सुखप्रद, सब प्रकार स्वच्छ और समतल वायुरहित गुफा आदि उत्तम स्थान में बैठकर मन को ध्यानावस्थित करे।"

उपरोक्त वर्णन में उपनिषद्कार ने आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि का बड़ी स्पष्टता से वर्णन किया है। प्राणायाम की विधि में हठयोग से कुछ अन्तर जान पड़ता है, पर सभी लोग ग्रन्थों में बीसियों तरह के प्राणायामों का वर्णन किया है और राजयोग, ध्यानयोग के प्राणायाम में पूरक, कुम्भक, रेचक का विधान नहीं है। इस साधन का फल भी उसी प्रकार का लिखा है जैसा कि पातंजल योग सूत्र और अन्य योग ग्रन्थों में लिखा है। कहा गया है कि उपरोक्त साधन के परिणामस्वरूप साधक को निम्नलिखित अवस्था का अनुभव होता है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां,
खद्यातविद्युत्स्फटिक शशीनाम्।
एतानिरूपाणि पुरः सराणि,
ब्रह्मण्यव्यक्तिकराणि योगे॥
पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते,
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोग न जरा न मृत्युः,
प्राप्तस्य योगाग्नमय शरीरम्॥
लघुत्व मारोग्यं लोलुपत्वं,
वर्णप्रसादं सोष्ठवं च।
गन्धः शुभौ मूत्रपुरीषमल्पं,
योगप्रवृतिं प्रथमां वदन्ति॥

[श्वेता० २।११।१२।१३]

अर्थात्—"ब्रह्म प्राप्ति के लिये किये जाने वाले योग में योगी के समक्ष कुहरा, धुँआ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत, स्फटिक मणि

और चन्द्रमा के समान अनेक दृश्य दिखाई पड़ते हैं, यह सब योग-साफल्य के लक्षण रूप होते हैं। पंच महाभूतों का अच्छी तरह से उत्थान होने पर और पंचयोग सम्बन्धी गुणों के सिद्ध हो जाने पर योग से तेजस्वी हुये देह का पा लेने वाला साधक रोग, वृद्धावस्था, मृत्यु से मुक्त हो जाता है। देह का हल्का होना, आरोग्य, भोगों से निवृत्ति, वर्ण की उज्ज्वलता, स्वरसौष्ठव, श्रेष्ठ गन्ध, मल-मूत्र की कमी यह सब योग की प्रथम सिद्धि बताई गई है।"

इस प्रकार उपनिषदों में अनेक स्थानों पर योग की विभिन्न विधियों का उल्लेख मिलता है। पर मानना पड़ेगा कि यह वर्णन उस समय का है जबकि योग का एक मात्र उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति करके परमात्मा की अनुभूति और समीपत्व प्राप्त करना था। उस समय न तो योग के पचासों तरह के भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं और न तरह-तरह के सांसारिक कार्यों की सिद्धि के लिये प्रयोग की विधियाँ बताई गई हैं। वेद और उपनिषदों में इस प्रसंग में केवल 'योग' शब्द ही काम में लाया गया है, कहीं भी ज्ञानयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग आदि का नाम प्रथक्-प्रथक् नहीं दिया गया है। यद्यपि उनमें पतंजलि के अष्टांग योग के सब तत्त्व मूल रूप में मौजूद हैं पर सबका वर्णन और उद्देश्य एक मात्र आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति ही कहा गया है। कठोपनिषद् में नचिकेता को भी यम ने मनुष्य के लिये सबसे बड़ा पुरुषार्थ—जीवन का लाभ यही बतलाया है—

त दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं;
गुहाहित गह्वरेष्ठ पुराणम् ॥
अध्यात्मयोगाधिगमेन देव,
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

(कठ० १।२।१२)

अर्थात्—"जो ब्रह्म सनातन, दुर्लभ-दर्शन, गूढ़, सर्वव्यापी, हृदय

रूप गुफा में स्थित रहता है, उसे बुद्धिमान पुरुष आध्यात्मिक योग द्वारा समझकर हर्ष शोकादि से मुक्त हो जाता है।"

मुण्डकोपनिषद् में भी योग का परम फल बताते हुये यही कहा है—

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः।
सन्यास योगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले,
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

अर्थात् "जो वेदान्त ज्ञान द्वारा परमेश्वर को जान चुके हैं और सन्यास तथा योग के द्वारा शुद्ध हो चुके हैं, ऐसे साधक शरीर त्यागकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और वहां परम अमृत का लाभ कर जीवन्मुक्त हो जाते हैं।"

उपनिषदों में वर्णित योग का स्वरूप निस्सन्देह पूर्णतः शुद्ध और कल्याणमय है। उससे आत्मा का उत्थान होता है और सावक आध्यात्मिक-जगत के लाभों को प्राप्त करने में सफल होता है।

श्रीमद्भगवत् गीता में योग की प्रधानता—

भगवत्गीता को यदि योग का एक प्रमुख ग्रन्थ कहा जाय तो उसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। गीता में 'योग', 'योगी' और 'योग युक्त' का शब्द जितना अधिक आया है, उतना किसी बड़े ग्रन्थ में भी कदाचित् ही मिल सके। गीता के प्रत्येक अध्याय का नाम किसी प्रकार के योग मार्ग पर ही है जैसे दूसरा अध्याय साँख्ययोग, तीसरा कर्मयोग, चौथा ज्ञान-कर्म सन्यासयोग, पांचवा कर्म सन्यासयोग, छटा आत्म संयम-योग, सातवाँ ज्ञान-विज्ञानयोग आदि। प्रत्येक अध्याय के अन्त में "इति श्रीमद्भगवत्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे"- ये शब्द भी हैं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि गीता का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों

को ऐसा योगयुक्त जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देना ही है जिससे इह-लौकिक जीवन में सफल मनोरथ होकर परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर सके। यह सत्य है कि गीता में सबसे अधिक प्रधानता निष्काम कर्म योग को दी गई है और योग की सबसे श्रेष्ठ व्याख्या "योगः कर्म सुकौशलम्" बतलाई गयी है, फिर भी उसमें पतञ्जल योगदर्शन में वर्णित अष्टाङ्गयोग की विधि का भी सर्वथा अभाव नहीं है। गीता में प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है और छटे अध्याय में तो 'पतञ्जल' 'योगदर्शन' में दी गई योग विधि का यथातथ्य वर्णन पाया जाता है। उसके कुछ श्लोक देखिये—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिर मासनमात्मनः
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चलाजिन कुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मन कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्जय द्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समंकायशिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशाश्चानव लोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चि तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अर्थात्—"शुद्ध भूमि में कुशा, मृगछाला और वस्त्र को एक के ऊपर एक बिछाकर ऐसे आसन पर स्थिर होकर बैठे जो न अति ऊँचा हो और न अति नीचा हो। उस आसन पर बैठकर और मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को वश में करते हुये अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे। उसकी विधि यह है कि काया, शिर और ग्रीवा को समान (सीधा) और निश्चल रखते हुये दृढ़ होकर; अपनी नासिका के अग्रभाग को देखते हुये; अन्य दिशाओं को न देखता हुआ ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित रहता हुआ भय रहित तथा अच्छी प्रकार शान्त

अन्तःकरण वाला और सावधान होकर, मन को वश में करके मुझ में (भगवान में) चित्त लगावे।"

आगे चलकर योगाभ्यास के समय में किस प्रकार का खान-पान, रहन-सहन रखना उचित है, इसका विवेचन अन्य योग ग्रन्थों के अनुसार ही पाया जाता है—

नात्यश्न तस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नेव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगोभवति दुःखहा ॥१७॥
यदा विनियतं चितमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्चते तदा ॥१८॥

अर्थात्—"यह योग न तो बहुत खाने वाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खाने वाले का, तथा न अति शयन करने वाले का और न अत्यन्त जागने वाले का ही सिद्ध होता है। यह दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग आहार और विहार करने वाले का तथा कर्मों में उचित चेष्टा करने वाले का और यथायोग शयन करने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। इस प्रकार योग के अभ्यास से अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भली प्रकार स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण कामनाओं से निःपृह हुआ पुरुष 'योगायुक्त' कहा जाता है।"

इस प्रकार के योग का फल भी महान कहा गया है। ऐसे योगाभ्यासी को संसार के दुःख, क्लेश, चढ़ाव-उतार, विघ्न-बाधाएँ किसी भी समय व्यथित या व्याकुल नहीं कर सकतीं। वह प्रत्येक अवस्था में पूर्ण शान्त, सन्तुष्ट और निश्चल रहता है। इसका वर्णन करते हुये कहा गया है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचितस्य युञ्जतो योग मात्मनः ॥१६॥
यत्रोपरमते चित्त निरुद्ध योग सेवया ।
यत्र वैवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
त विद्याद दुःख सयोगवियोग योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा ॥२३॥

अर्थात्—"जिस प्रकार वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक चलायमान नहीं होता, वैसे ही अवस्था परमात्मा के ध्यान में लगे हुये योगी के जीते हुये चित्त की होती है। जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में परमेश्वर के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार होने लगता है तो वह योगी सच्चिदानन्द परमात्मा में ही सन्तुष्ट होता है। जो दुःख रूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसी को जानना चाहिये। वह योग बिना उक्ताये हुये अर्थात् तत्पर हुये चित्त से निश्चय पूर्वक करना कर्त्तव्य है।"

इस प्रकार योग का विधि-विधान और उसके सर्वोपरि महत्व का वर्णन करके भगवान ने उसे जीवात्मा के लिये सबसे बड़ा लाभ या पुरुषार्थ बतलाया है और अर्जुन को यही सम्मति दी है कि तू उसी योग मार्ग का अवलम्बन कर।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तष्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

अर्थात्—"योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और शास्त्र के ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ है, तथा सकाम कर्म (कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ आदि) करने वालो से भी श्रेष्ठ है, इससे हे अर्जुन ! तू योगी वन।"

गीता के योगी की एक विशेषता यह है कि वह सच्चे अर्थों में

पूर्ण-योग है और प्रत्येक मनुष्य उससे निश्चय रूप से लाभ उठा सकता है। यह हम भी कह सकते हैं कि वह वास्तव में 'पूर्ण योग' है। अन्य योग-प्रणालियों में योग के टुकड़े-टुकड़े करके किसी एक अंग पर ही अधिक जोर दिया गया है, जिससे वह एकदेशीय हो गया है। यद्यपि प्रत्येक योग-प्रणाली अपने अपने स्थान पर उपयोगी और उत्तम है, पर इससे योग की विशालता और सर्वग्राहिता में कमी पड़ती है। इस तथ्य को समझ कर ही एक विद्वान् ने यह सम्मत्ति प्रकट की है—

"गीता के योग का सार भगवान ने अठारहवें अध्याय के ६५ वें श्लोक में कह दिया है कि "मेरे (भगवान) के मन में अपना मन मिला दो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा भजन करो, मुझे प्रणाम करो। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि तुम मुझको ही प्राप्त होगे, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।" यह तत्व गीता का हृदय है। जैसा हम समझ सकते हैं, यह वह योग है जो मानव प्रकृति के सब अंगों को एक सूत्र में ले आता है। इसके बिना योग क्या है? ऐसा विकास किस काम का जिसमें सब अङ्गों का सामञ्जस्य न हो? सभी अंग शुद्ध, पवित्र और दिव्य न बनें? यदि कोई कहे कि यह बड़ा कठिन और दुर्गम मार्ग है, तो उत्तर यही है कि इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है। यदि अधोगति से बाहर निकलना है, तो अन्त में इसी को अंगीकार करना पड़ेगा। भगवान कृष्ण ने स्वयं कह दिया है कि "अनेक जन्मों के पश्चात् ज्ञानी पुरुष मेरे पास आता है। अभी या पीछे सभी को इसी दुर्गम-मार्ग या 'क्षुरस्य धारा' (तलवार की धार) पर चलना होगा। चलते हुये चाहे पांवों से कितना ही रक्त निकले और हृदय का साहस टूटे पर इसमें सन्देह नहीं कि भगवान सदा हमारे पार्श्व में रहते हैं, एक क्षण के लिये भी हमें अकेला नहीं छोड़ते।"

अन्त में यह समझ लेना चाहिये कि गीता में जो योग प्रतिपादित किया गया है, वह अधिकांश वेदान्तियों के सिद्धान्त की तरह

शुष्क अथवा वर्तमान समय के भक्तों की तरह अपने ही उद्धार की आकांक्षा रखने वाला नहीं है, वरन् उसका मुख्य आधार सर्वव्यापी प्रेम है, जो अपने साथ सब जीवों के उद्धार की कामना करता है। यही भाव निम्न श्लोक से स्पष्ट व्यक्त होता है—

आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुख वा यदि दुःख स योग परमा मतः ॥(६-३२)

अर्थात—"जो दूसरों को आत्मवत् समझ कर उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है, वही परम योगी है।"

इस प्रकार गीता के योग का आशय वन या पहाड़ के भीतर अथवा लोकालय से सर्वथा पृथक रहकर जप-तप करना नहीं है, वरन् विवेक-युक्त साधनों द्वारा आत्मोन्नति करते हुये अन्य लोगों का हित-साधन ही है। यह भाव साधारण परोपकार के सिद्धान्त की अपेक्षा भी ऊँचा है, क्योंकि परोपकार में फिर भी दो व्यक्तियों के बीच पार्थक्य की भावना मौजूद रहती है पर गीतोक्त योग में दूसरों को आत्मवत् समझ उसी प्रकार से उनका हित-साधन करने की प्रेरणा दी गई है जिस प्रकार मनुष्य स्वभावतः अपने कष्टों और अभावों की निवृत्ति के लिये करता है। यही आत्मज्ञान की सर्वोच्च सीढ़ी है जिस पर पहुँच जाने के पश्चात् परमात्मा से योग होने का लक्ष्य निश्चित रूप से पूरा हो जाता है।

योग-वासिष्ठ में आध्यात्म योग का विवेचन

हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक ग्रन्थों में "योगवासिष्ट महारामायण" का स्थान बहुत ऊँचा है। इसमें श्रीरामचन्द्र और महर्षि वसिष्ठ के संवाद के रूप में दर्शन, ज्ञान, योग और कर्म सिद्धान्तों का बड़ी स्पष्टता, रोचकता और गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया गया है। इसमें योग-साधन की विधि, योग-सिद्धियां और योग भूमिकाओं का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

योगवासिष्ठ में वर्णित योगी अपने वास्तविक रूप का अनुभव कर लेता है। इसके लिये उन्होंने तीन मार्ग बतलाये हैं। (१) एक तत्व की दृढ़ भावना, (२) मन की शान्ति, (३) प्राणों के स्पन्दन का निरोध। एक तत्व की दृढ़ भावना से मन समाहित होकर आत्म-तत्व में लीन हो जाता है। इसी प्रकार मन के शान्त हो जाने से संसार का आकर्षण क्षीण हो जाता है और जीवात्मा ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाती है। प्राणों के निरोध से भी चित्त की एकाग्रता होकर आत्म-स्वरूप की प्रतीति होती है। 'योग-वासिष्ठ' में केवल श्वाँस-प्रश्वाँस का ही प्राणायाम नहीं बतलाया है वरन् और भी अनेक ऐसे क्रियात्मक साधन बताये गये हैं जिनके द्वारा प्राणों की प्रगति और शक्ति, वृद्धि का उद्देश्य पूरा हो सकता है। उन उपायों में से कुछ ये हैं—वैराग्य; शास्त्र और सज्जनों का संग; एक तत्व का अभ्यास; दुःख हरने वाले पूरकादि प्राणायामों का गहरा अभ्यास; ॐकार का उच्चारण करते-करते शब्द तत्व की भावना; रेचक के अभ्यास से प्राण को आकाश पर्यन्त विस्तृत करना; पूरक के अभ्यास से मेरु के समान स्थिर हो जाना; कुम्भक के अभ्यास से प्राण का स्तम्भित करना, तालु मूल स्थित ग्रन्थि (घाटी) को जिह्वा से यत्नपूर्वक दबा कर ऊर्द्ध-रन्ध्र में प्राण ले जाना; नासाग्र के द्वादश अंगुल पर बाहर शुद्ध आकाश में संवित हो लीन करना; भौंहों के मध्य से दृष्टि को लीन करके शुद्ध चेतक में स्थिर होना। इनके सिवाय और भी प्राण निरोध की अनेक विधियाँ अनेक गुरुओं द्वारा बताई जाती हैं। इस प्रकार निरोध के अभ्यास से प्राण के लय होने पर मन की क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाण प्राप्ति सुगम हो जाती है।

महर्षि वसिष्ट ने इस नियम का विवेचन करते हुये और स्पष्ट शब्दों में चित्त की बन्धनकारणी वृत्ति को मिटाने का उल्लेख करते हुये योग और वेदान्त दोनों मार्गों को समान महत्वपूर्ण बतलाया है:—

द्वै क्रमो चित्त नाशस्य योगौ ज्ञानं च राघव ।
योगस्तदवृति-रोधो हि ज्ञान सम्यग्वेक्षणम् ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगो कस्यचिद् ज्ञान निश्चय ।
प्रकारो द्वौ ततौ देवो जगाद परमेश्वरः ॥

अर्थात्—"चित्त की चंचल वृत्तियों को नष्ट करने के दो उपाय योग और ज्ञान हैं । योग का आशय है—चित्त वृत्तियों का निरोध करना और ज्ञान का तात्पर्य है आत्मा और परमात्मा के सच्चे रूप का अनुभव करना । इनमें से किसी के लिये योग कठिन होता है और किसी के लिये ज्ञान । इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों के हितार्थ दोनों मार्ग प्रकट किये हैं ।"

आगे चलकर शिखिध्वज और चूडाला के उपाख्यान के प्रसङ्ग से योगवासिष्ठकार ने योगसाधन का जो वर्णन किया है, वह योग-दर्शन तथा अन्य योग ग्रन्थों के सर्वथा अनुकूल और साधकों के लिये परम उपयोगी है । उसमें लिखा है—

"साध्य अर्थ से भिन्न पदार्थों की वासनाओं का त्याग करके गुदा आदि द्वारों के संकोच से, सिद्धादि आसन, काया, मस्तक और गर्दन की समता, निश्चलता तथा नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर करना आदि योग शास्त्रोक्त क्रियाओं से, भोजन और आसन की पवित्रता से, भली भांति योग शास्त्र के परिशीलन से, सुखासन से बैठकर कुछ काल तक प्राणायाम के अभ्यास से, रेचक-पूरक-कुम्भक का भली प्रकार अभ्यास हो जाने पर योगी के पाँचों प्राण उसी तरह उसके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजा के सेवक राजा के वश में रहते हैं ।

"रे राघव ! प्राणी मात्र के द्वार देहस्थित प्राण-अपान वायु के अपने अधीन हो जाने पर राज्य से लेकर मोक्ष पर्यन्त सभी सम्पत्तियां सुखसाध्य हो जाती हैं । मण्डलाकार से युक्त, मर्म (नाभि) स्थान में समाश्रित, सौ नाड़ियों की आश्रय अन्त्रवेष्टनिका (सुषुम्ना) नाम की नाड़ी है । श्रीराम ! देव, असुर, मनुष्य, मृग, जलचर, खग, कीट,

पतंग आदि सब प्रकार के प्राणियों में यह नाड़ी स्थित है, गुदा से लेकर भौंह तक सब छिद्रों को स्पर्श करती हुई वह सुषुम्ना नाड़ी मन की वृत्तियों के भीतर चंचल और बाहर प्राणादि से स्पन्दयुक्त होकर सदा स्थित रहती है।

"यह कुण्डलाकार वाहिनी है, इसलिये कुण्डलिनी नाम से कही गई है। वह सब प्राणियों की परमा शक्ति है, तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी शक्तियों की सत्ता-स्फूर्ति होने के कारण सबको वेग प्रदान करती है। वही अपने मुख से प्राण वायु ऊपर फैंकती है, अपान को नीचे खींचती है, इसलिये सदा सांस खींचती हुई, स्पन्दन में संलग्न वह ऊपर की ओर मुँह करके कुपित सर्पिणी की तरह स्थित रहती है। यह कोमल स्पर्श वाली कुण्डलिनी कमल में भ्रमर की तरह देह के मध्य जैसे-जैसे स्फुरति होती है, वैसे-वैसे अन्तःकरण में ज्ञान होता है। उस कुण्डलिनी में हृदय कोष की समस्त नाड़ियाँ सम्मिलित हैं। वे सब नाड़ियाँ सागर में नदियों की तरह उसी से बारम्बार उत्पन्न होती हैं तथा उसी में विलीन होती जाती हैं। प्राण-रूप से उर्द्धगमन करते रहने तथा अपान रूप से अधोभाग की ओर गमन करने से वह सम्पूर्ण ज्ञानों की बीज कही गई हैं।"

आगे चलकर इस अभ्यास द्वारा सिद्धियों का वर्णन किया गया हैं। जैसे योग-दर्शन में कहा गया है—

"कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघुतूल समापत्तेस्त्राऽऽकाश गमनम्।" (३-४२)

अर्थात्—"शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से अथवा हल्की वस्तु रूई आदि में संयम करने से आकाश में चलने की शक्ति आ जाती है।"

अथवा—

"मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।" (३-३२)

अर्थात्—"सिर के कपाल में एक छिद्र है, जिसको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। वहाँ प्रकाशमयी ज्योति है, उसमें संयम करने से पृथ्वी और स्वर्ग के बीच विचरण करने वाले सिद्धों के दर्शन होते हैं।"

योग वासिष्ट में भी इन तथा अन्य सिद्धियों का यथातथ्य वर्णन पाया जाता है, कुण्डलिनी-साधन का वर्णन करते हुये उसमें बताया गया है—

"राघव ! पुर्यष्ठक लिङ्गात्मक जीव की आधारभूत कुण्डलिनी को तुम सुगन्ध की आधारभूत पुष्पमंजरी की भाँति जानो। पूरक के अभ्यास से जब प्राणी कुण्डलिनी को भेदकर अर्थात् कूमांकार नाडी में प्राण वायु को रोक कर समरूप में स्थित होता है तब मेरु पर्वत के समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा काया की गुरुता (गरिमा नामक सिद्धि) उसे प्राप्त होती है। जिस समय पूरक से पूर्ण शरीर के भीतर मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त लम्बा करके प्राणवायु को ऊपर खींचकर कुण्डलिनी ऊपर पहुँचाई जाती है, उस समय दण्ड के समान लम्बी होकर वह कुण्डलिनी देह में बँधी लता के समान सब नाड़ियों को अपने साथ लेकर अधिक अभ्यास होने के कारण सर्पिणी की भाँति शीघ्र चली जाती है। उस समय नाड़ियों में वायु भर जाने से, पैर से लेकर मस्तक तक बिल्कुल हल्के हुये इस शरीर को कुण्डलिनी इस प्रकार ऊपर उठा ले जाती है जिस प्रकार पवन से पूर्ण जलगत भारी मनुष्य को जल के ऊपर उठा ले जाती है। यही योगियों का आकाश गमन है। इस प्रकार के अभ्यास से युक्त आकाशगामी योग से अर्थात् आकाश के साथ शरीर का सम्बन्ध रखने के लिये किये गये संयम रूप योग से योगी लोग ऊर्ध्व गति को प्राप्त हो जाते हैं।"

जिस समय दूसरी नाड़ियों के व्यापार को रोक देने वाले रेचक प्राणायाम के प्रयोग से ऊपर की ओर खींच ली गई कुण्डलिनी रूप प्राण-शक्ति सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्राण वायु के प्रवाह से मस्तक के दोनों

कपालों की संधि रूप कपाट (ब्रह्मरन्ध्र) के बारह-बारह अंगुल स्थान में मुहूर्तभर लिये स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धियों के दर्शन होते हैं। किन्तु अज्ञान का आश्रय करने वाला कोई भी मलिन पुरुष इन्द्रियों से या किसी अन्य अदिव्य (स्थूल)उपाय से वायु स्वरूप आकाश-गामी सिद्धियों को भी कभी नहीं देख सकता।

योग मार्ग पर चलने वाले पुरुष को सांसारिक और पारलौकिक वैभव तथा विषयों से जिस प्रकार हार्दिक वैराग्य हो जाता है और वह इन वस्तुओं के कारण किसी प्रकार का हर्ष विषाद नहीं करता, उसका वर्णन योग-दर्शन के वैराग्य-अभ्यास वाले सूत्रों में किया गया है। जैसे समाधिपाद के पन्द्रहवें सूत्र में कहा गया है—

दृष्टानुश्राविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात्—"दृष्ट (जैसे धन, सम्पत्ति, अन्न, वस्त्राभूषण, स्त्री, राज, ऐश्वर्य आदि) और अनुश्राविक (जैसे देवलोक, स्वर्ग, दिव्य, गन्ध, रस अथवा अष्ट सिद्धियां आदि) विषय में जिनकी तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य वशीकार-वैराग्य कहा जाता है।"

योगवासिष्ट में भी अध्यात्म योग का फल ऐसी वैराग्य की स्थिति बतलाई गई है जिसमें मनुष्य के हृदय में पूर्ण समत्वभाव का उदय हो जाये। गीता में जिस अवस्था को 'स्थित प्रज्ञ' पद कहा गया है और जिसे ज्ञान तथा योग का सर्वोच्च फल बतलाया गया है, उसी का वर्णन योगवासिष्ट में जीवन्मुक्त अवस्था के नाम से किया गया है। पाठक देखेंगे कि निम्नलिखित वर्णन गीतोक्त साँख्य-योग विवेचन से किस प्रकार साहृश्य रखता है—

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥
वोधैकनिष्ठता यातो जग्रत्येव सुषुप्तवत्।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुख प्रभा ।
यथा प्राप्तस्थितेर्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥
यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जागृन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥
यस्गनाहंकृतो भावो यस्त बुद्धिर्नं लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतोवापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकोन्नोद्विजते व पः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
शान्त संसार कलनः कलावानापि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

अर्थात्—"यथायोग्य संसार का व्यवहार करते हुये भी जिस पुरुष की दृष्टि में यह जगत ज्यों-त्यों बना रहने पर भी विलीन हो जाता है—आकाश के समान शून्य प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो व्यवहार में लगा हुआ भी सच्ची बोधनिष्ठा को प्राप्त हो जाता है, जागृत अवस्था में भी सुषुप्त व्यक्ति की तरह रागद्वेष तथा हर्ष-शोकादि से रहित हो जाता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो निर्विकार आत्मा में सुषुप्ति की तरह स्थित रहता हुआ भी अविद्या रूप निद्रा का निवारण हो जाने से सदा जागता रहता है, पर जो जागृत भी नहीं है, भोग-जगत में सदा सोया रहता है अर्थात् भोग-बुद्धि से जो किसी पदार्थ का उपभोग नहीं करता जिसका ज्ञान वासना-रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसमें अहंकार का भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म करते समय कृतत्व और कर्म न करते समय अकृतत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। न तो जिससे अन्य लोगों का उद्वेग होता है और जो न स्वयं अन्य लोगों द्वारा उद्वेगित होता है तथा जो हर्ष, क्रोध तथा भय रहित है, जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो संसार को सारयुक्त नहीं समझता, जो अवयवयुक्त दीखने पर भी वस्तुतः अवयवरहित है, जो

चित्तयुक्त होकर भी बास्तव में चित्त रहित है, अर्थात् जिसने अपनी इन्द्रियों और मन को पूर्ण रूप से वश कर रखा है, वही जीव शुद्ध कहा जाता हैं ।"

योगवासिष्ठ एक विशाल ग्रन्थ है और उसमें भारतीय अध्यात्मज्ञान के सब विषयों को संग्रह कर देने का प्रयत्न किया गया है । योग-याधन की क्रियायें, उनकी विधि और लाभ आदि का वर्णन उसमें एक जगह न करके विभिन्न स्थानों पर किया गया है । यदि उन सबको मिलाकर पढ़ा जाय तो एक सांगोपांग योग-शास्त्र बन सकता है जिसमें ज्ञान योग, राज-योग, हठ-योग, कर्म-योग आदि सबके तत्त्व ज्ञात हो सकते हैं । वैसे यह मुख्यत: वेदान्त सिद्धान्त की विवेचना करता है पर इसके नाम में 'योग' शव्द होने से सर्वसाधारण इसे योग सम्बन्धी ग्रन्थ भी मानते हैं और यह विचार सर्वथा निराधार भी नहीं है ।

श्रीमद्भागवत में योग वर्णन

पुराणों में अनेक स्थलों पर योग के विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है । एकाध पुराण में अष्टांग योग की सभी विधियों को बहुत विस्तार पूर्वक बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत में भी जिसे विद्वानों द्वारा समस्त पुराणों में सर्वश्रेष्ठ बतलाया जाता है, योग का विषय अनेक स्थलों पर मिलता है । भागवत में अनेक ऋषि-मुनियों और दैवी पुरुषों के चरित्रों में योग-साधन का वर्णन किया गया है । यों भी उसमें स्वतंत्र रूप से योग साधन का विधान बतलाया गया है और उसके सब अंगों पर प्रकाश डाला गया है । यम और नियम का वर्णन करने के पश्चात् आसन का वर्णन इस प्रकार किया गया है ।

गृहात प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थं जलाप्लुतः ।
शुचौ विविक्त आसोनों विधिवत् कल्पितासने ॥

(भाग० २।१।१६)

अर्थात्—"घर से निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्य तीर्थों के जल में स्नान करके और शुद्ध एकान्त स्थान में विधि पूर्वक बिछाये आसन पर आसीन हो।"

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन स्वास्ति समासीनऋजु काय समभ्यसेत् ॥
(भाग० ३।२८।८)

अर्थात्—"सुचि देश में आसन लगाकर आसन को जीते, फिर स्वस्ति आसन लगा सीधा बैठकर योगाभ्यास करे।"

इसके पश्चात् प्राणायाम का विचार किया गया है और उसमें पूरक, कुम्भक और रेचक का उल्लेख किया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्ग पूरक कुम्भक रेचकैः ।
+ + +
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृत्त ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमाविस्मरन् ॥
(भाग० २।१।१७)

अर्थात्—"पूरक, कुम्भक, रेचक द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करे···। फिर तीन अक्षर वाले शुद्ध, परम ब्रह्माक्षर वाले मन्त्र (ॐकार) का मन जप से करे। इस ब्रह्मजीव को बिना भुलाये श्वाँस को जीत कर मन को एकाग्र करे।"

आगे चलकर इस प्रकार के प्राणायाम का फल इस प्रकार बतलाया है।

मनोऽविरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगि .. ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातंत्यजतिवर्णमलम् ॥

अर्थात्—"जो योगी इस प्रकार मन्त्रयुक्त (सगर्भ) प्राणायाम के अभ्यास से श्वाँस को जीत लेता है, उसके मन पर से मलावरण का नाश

उसी प्रकार हो जाता है जैसे आग में तपाने पर लोह का मैल दूर हो जाता है।"

प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार का भी वर्णन किया गया है और कहा है कि "साधक अपने निश्चय बुद्धियुक्त मन की सहायता से इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचे और उनको एक स्थान पर स्थिर रखने का प्रयत्न करे।" धारणा भी दो प्रकार की बतलाई है—एक बराज धारणा दूसरी अन्तर्याम धारणा। इस भेद का कारण यह है कि पुराणों में भगवान के दो रूप माने गये हैं—मूर्त और अमूर्त, जिनको स्थूल और सूक्ष्म के नाम से भी कहा जा सकता है। भगवान के मतानुसार पहले भगवान के विराट रूप में बैराज धारणा करे, क्योंकि वह स्थूल रूप विषयंक होने से शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जब इसमें सफलता प्राप्त हो जाय तो अमूर्त रूप वाली अन्तर्याम धारणा करनी चाहिये। जब हृदय रूपी कमल में भगवान की धारणा निश्चल रूप से जम जाय तब भगवान के एक-एक अंगों का ध्यान आरम्भ करे। भागवत में इसका अत्यन्त भावपूर्ण वर्णन इस प्रकार किया गया है—

ध्यानायनं प्रहसित बहुलाधरोष्ठ—
भासारुणायित तनुद्विजकुन्द पंक्ति।
ध्यायेत स्वदेह कुहरेऽवासितस्य विष्णो—
भक्त्यार्द्रयार्पित मना न पृथग्दिदृक्षेत॥
(३।२८।३३)

अर्थात्—"हृदय में रहने वाले भगवान के उस ध्यानायन स्वरूप हास्य का—जिस हाथ से नीचे के होंठ की लालिमा भीतर की कुन्दकली सी दंत पंक्ति को अरुण आभा प्रदान कर रही है—अर्पित-मन होकर सरस भक्ति से ध्यान करे, पृथक न देखे।"

इस प्रकार भागवत में भी पातञ्जल-योग-दर्शन की तरह अष्टांग-योग का प्रतिपादन किया है पर अन्तर यही है कि इसमें सर्वत्र

भगवत् भक्ति का समन्वय किया गया है। कई योग मार्गों में ज्ञान या कर्म को प्रधानता देकर योग की कठिन विधियों से संयुक्त कर दिया है। पर भागवतकार का मत है कि ज़ो लोग शुष्क साधना के मार्ग से परमात्मा की प्राप्ति का यत्न करते हैं वे वास्तविक योगी नहीं है और वे उसके सच्चे लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। योगी का उद्देश्य काया-कल्प नहीं है, केवल शरीर को निरोग और दृढ़ बनाना नहीं है, वरन् उसका परम ध्येय भगवान की प्राप्ति ही है जो बिना भक्तियुक्त हृदय के नहीं हो सकती है।

केचिद्देहमिम धीराः सुकल्प वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधो पायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥
नहितत् कुशलाद्दत्य तदायासो ह्यपार्थक।
अन्तवत्वच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पते ॥४२॥
योग निषुवते नित्यं कायश्चेत कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान मतिमान योगमत्सृज्य मत्परः ॥४३॥

(भाग० ११।२८)

अर्थात्—"कोई-कोई धीर इस देह का कल्प करने, चिरायु होने के लिये योग के विविध उपाय किया करते हैं। परन्तु विवेकवान इस बात को महत्व नहीं देते। यह सारा प्रयास व्यर्थ ही जाने वाला होता है, क्योंकि वृक्ष के फल की तरह शरीर नाशवान है। योग साधन करने से काया यदि कल्पान्त तक भी जीवित रहे तो भी भगवत्-प्रेमी व्यक्ति भगवान की प्राप्ति को छोड़कर कभी उसमें श्रद्धा नहीं करेगा।"

गीता में भी शुष्क ज्ञान-मार्ग का इसी आधार पर निषेध किया गया है कि वह वास्तव में स्वार्थ-मूलक बन जाता है। जो योग अपने लिये सांसारिक सिद्धियों को लक्ष्य में रखकर किया जाता है अथवा जिसका उद्देश्य संसार से किसी प्रकार का नाता न रखकर, किसी के

सुख-दुःख से कुछ भी प्रयोजन न रखकर केवल अपनी मुक्ति की आकांक्षा रखना है, वह भी महत्वहीन है। इसलिये योग के साथ भगवान की भक्ति और उसकी सृष्टि के साथ आत्मीयता-प्रेम की भावना रखना निश्चय ही महत्वपूर्ण और आवश्यक है।

श्रीरामचरितमानस में योग का उपदेश—

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरित-मानस में भगवान राम की कथा कहने के प्रसंग में स्थान-स्थान पर धर्म के समस्त अंगों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है और ज्ञान, वैराग्य, योग, भक्ति के गूढ़ प्रश्नों को सरल रीति से सुलझाया है। 'अरण्यकाण्ड' में उन्होंने इस विषय का विशेष रूप से वर्णन किया है और मोक्ष प्राप्ति का साधन बतलाते हुये कहा है—

धर्म तें विरत योग तें ज्ञाना।
ज्ञान मोक्ष प्रद वेद बखाना।

जीव को सांसारिक बन्धनों में बाँध रखने वाली माया और उससे छुटकारा दिलाने वाले ज्ञान-योग का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

में अरु मोर तोर ने माया।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा।
जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके।

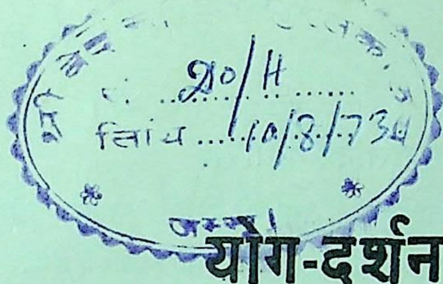
प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताकें ।।
ज्ञान मान जहं एकउ नाहीं ।
देख ब्रह्मा समान सब माँही ।।
कहिग्र तात सो परम विरागी ।
तुन सम सिद्धि तीन गुन त्यागो ।।

सारांश यह है कि जीव अविद्या रूपी माया के बस में पड़ा तरह-तरह के पाप कर्मों को करता हुआ दुःख भोग रहा है । इससे छुटकारा पाने का साधन वह ज्ञान है जिससे अहंकार को त्यागकर जीव मात्र को ब्रह्म रूप समझ लिया जाय और सब प्रकार के सांसारिक वैभव और प्रपंच को तिनके की तरह त्याग दिया जाय ।

इस प्रकार ज्ञान-योग का वर्णन करके गोस्वामी जी ने कहा है कि ज्ञान मार्ग कठिन है और उसमें असफलता अथवा अपूर्णता की आशंका बनी रहती है । इसलिये सामान्य स्थिति के मनुष्य के लिये भक्ति योग ही सर्वोत्तम है जिसमें वह सन्त पुरुषों और भगवान की कृपा का भरोसा करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है और माया के फन्दे से छुटकारा पाकर मोक्ष की पदवी को प्राप्त कर सकता है । इसके लिये गोस्वामी जी ने जो नवधा भक्ति की विधि बतलाई है, वह इस प्रकार है—

प्रथम भगति सन्तन कर संगा
दूसर रति मम कथा प्रसंगा ।
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम-गुन गन, करै कपट तजि गान ।।
मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा ।
ंचम भजन सो वेद प्रकासा ।।
षट दम शील विरत बहु कर्मा ।
निरुत निरन्तर सज्जन धर्मा ।।

PTD after page 116



योग-दर्शन

समाधिपाद—१

अथ योगानुशासनम् ।।१।।

सूत्रार्थ—अब योग-शिक्षा के ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं ।

व्याख्या—महर्षि पतञ्जलि ने "अथ" मङ्गलवाची शब्द का ग्रन्थ के आरम्भ में प्रयोग करते हुये (समाधि) का वर्णन किया है, क्योंकि आत्म-बोध के लिये योग ही अति उत्तम साधन है । योगाभ्यास के लिये किसी बाहर की वस्तु की आवश्यकता नहीं, केवल शरीर के श्रम से संयम द्वारा मोक्ष सुख का अनुभव हो सकता है । योग के साधनों के भेद के कई नाम हैं जैसे—राज-योग, ध्यान-योग ज्ञान-योग, सांख्य-योग, कर्म-योग अर्थात् अनासक्ति योग, भक्ति योग, हठ योग आदि ।

श्री पतञ्जलि ने राजयोग को ही आरम्भ किया है क्योंकि इसी में सब प्रकार के योगों का समावेश है । अनुशासन शब्द का यह भाव है कि पतञ्जलि ने योग-शास्त्र जो अनादिकाल से चला आया है तथा जिसका वर्णन श्रुति, स्मृति में है, उसको सूत्र-रूप में क्रम-बद्ध करके लोक-कल्याण के लिये प्रचार किया है । योग के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ माने जाते हैं । अनुशासन शब्द का यह भी भाव है कि इस योग सूत्र से वे ही साधक आत्म-बोध के अधिकारी होंगे जो अनुशासन में होकर इसका अनुशीलन करेंगे ।

योग किसे कहते हैं यह अगले सूत्र से जानिये ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

सूत्रार्थ—चित्त की वृत्तियों को रोकने का नाम योग है ।

व्याख्या—चित्त की वृत्तियों, चेष्टाओं को बहिर्मुखी होने से, संसार के विषयों में भटकने से रोक कर अन्तर्मुखी बनाना, अध्यात्म विषयों में लगाना ही निरोध है, इसी को योग कहते हैं ।

चित्त अगाध समुद्र के जल के समान है जिस तरह जब पृथिवी के सम्बन्ध से कहीं खारी, कहीं मीठा तदाकार परिणाम को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार चित्त राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोहादि से बदलता रहता है, वायु के वेग से जैसे जल में तरगें उठती रहती हैं, उसी प्रकार चित्त इन्द्रियों द्वारा सांसारिक विषयों से आकर्षित होकर उनके आकार में परिणत होता रहता है । यह चित्त की वृत्तियां कहलाती हैं जो अनन्त है और हर समय पैदा होती रहती हैं । जब वायु का वेग शान्त हो जाता है तब तरङ्ग नष्ट होकर जल अपने स्वरूप में हो जाता है । उसी प्रकार चित्त योगाभ्यास से बाह्य-आभ्यान्तर परिणामों को त्याग कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसको चित्त-वृत्ति-निरोध कहते हैं ।

चित्त की पांच अवस्थायें होती हैं—(१) मूढ़, (२) क्षिप्त, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (४) निरुद्ध ।

(१) मूढ़ अवस्था—इसका कारण—काम, क्रोध, लोभ, मोह है । लक्षण—निद्रा, तन्द्रा, भय, मोह, आलस्य, दीनता आदि में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है । इस अवस्था में तमोगुण प्रधान होता है, यह अधम मनुष्यों की स्थिति है ।

(२) क्षिप्त—इसमें रजोगुण प्रधान होता है । इसका कारण—राग-द्वेष । लक्षण—धर्म-अधर्म, राग-विराग, ज्ञान-अज्ञान, ऐश्वर्य-

अनैश्वर्य में प्रवृत्ति होती है। यह स्थिति साधारण संसारी मनुष्यों की होती है।

(३) विक्षिप्त अवस्था—इसका कारण कर्म-योग है। जब सत्व गुण की प्रधानता होती है तब धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य में प्रवृत्ति रहती है; सुख, प्रसन्नता, क्षमा, श्रद्धा, धैर्य, चैतन्यता, ओज, दान, दया दिखाई पड़ते हैं। रजोगुण भी साथ में रहता है और वह अपना कार्य करता है, इससे चित्त में विक्षेप भी रहता है।

(४) एकाग्र अवस्था—जब रज और तम के विक्षेप रुक जाते है और एक ही दिशा में वृत्तियों का प्रवाह जारी रहता है, सत्व की प्रधानता होती हे तो इसे एकाग्र अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में चित्त निर्मल स्फटिक के समान होता है। यह स्थिति योगियों की होती है। उस समय परमाणुओं से लेकर महत्तत्व पर्यन्त ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतु, विषयों का साक्षात् हो जाता है। इस स्थिति की अन्तिम अवस्था विवेक-ख्याति है।

(५) निरुद्ध अवस्था—इस स्थिति में विवेक-ख्याति द्वारा चित्त और पुरुष का पूर्ण स्वरूप मालूम होकर 'पर वैराग्य' होता है। इससे ऊँची निरोधावस्था में पर-वैराग्य के संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं, चित्त की आत्म स्वरूप में स्थिति होती है। अविद्या आदि पांचों क्लेश नष्ट हो जाते हैं, कर्माशय रूप जन्मादिकों के बीज नहीं रहते। इसी को असम्प्रज्ञात एवं निर्जीव समाधि कहते हैं।

वृत्तियों के निरोध रुक जाने पर पुरुष की क्या स्थिति होती है, इसको अगले सूत्र में कहते हैं।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥

सूत्रार्थ—उस समय द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में ही अवस्थिति हो जाती है।

व्याख्या—जैसे तेज हवा चलते रहने से पानी में लहरें उठती रहती हैं और जब हवा रुक जाती है, तब लहरों का उठना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार वृत्तियों के निरोध हो जाने पर चित्त का कर्ता-पन का अभिमान निवृत्त हो जाता है अर्थात् मैं सुखी हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं दुःखी हूँ आदि अभिमान की निवृत्ति होने से वृत्ति रूप परिणाम होना भी रुक जाता है। आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। यही आत्म-दर्शन है, इसी को कैवल्य-स्थिति कहते हैं।

निरोध से भिन्न व्युत्थान अवस्था में पुरुष का क्या स्वरूप होता है इसको अगले सूत्र में बताते हैं:—

वृत्तिसारुप्यमितरत्र ॥४॥

सूत्रार्थ—इससे भिन्न अवस्था में द्रष्टा वृत्तियों के समान रूप वाला मालूम होता है।

व्याख्या—व्युत्थान (वृत्तियों के न रुकने की अवस्था) में आत्मा अपने चित्त के अनुरूप ही अपने को मानता है। दीन, दुःखी, नीच, ऊँच, ज्ञानी, सुखी आदि जैसी उसकी कल्पना होती है, वैसा ही वह अपने को मानता है। जैसे दर्पण के सामने जो वस्तु रखी होती है, वही उसमें दीखती है, उसी प्रकार आत्म रूपी दर्पण में वृत्तियों के होने से वह भी वैसा ही भासने लगता है। ऐसा मानना केवल भ्रम है पर इस स्वभाव से आत्मा पतित नहीं होती। जैसे गुड़हर के फूल के समीप होने के समय स्फटिक मणि में ललाई (लाल रंग) दीख पड़ता है, परन्तु उसकी स्वाभाविक शुक्लता दूर नहीं होती। निरोध में मुक्ति तथा व्युत्थान में बंधन है। इसलिये समाधि द्वारा बंधन से छुटकारा पाने के लिये चित्त की वृत्तियों को रोककर आध्यात्मिक विषय में प्रवृत्त होकर भवबंधन से छुटकारा पाकर आत्मानंद का अनुभव हो सकता है।

अनेक प्रकार की चित्त वृत्तियों को पांच भागों में विभाजित कर बताते हैं।

वृत्तयःपंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥५॥

सूत्रार्थ—क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियां पांच प्रकार की हैं।

व्याख्या—तमोगुण प्रधान क्लिष्ट वृत्तियां राग, द्वेष, अविद्या आदि क्लेशों को बढ़ाने वाली तथा योग साधना में विघ्न रूप होती हैं। सतोगुण प्रधान अक्लिष्ट वृत्तियां इन क्लेशों का शमन और योग साधन में सहायता करने वाली होती हैं। पहिले इन अक्लिष्ट वृत्तियों को ग्रहण करके इनकी सहायता से क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करना चाहिये फिर 'पर-वैराग्य' से उन अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध हो जाता है। और योग का उद्देश्य पूरा होता है।

यद्यपि क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार बहुत गहरे जमे हुये होते हैं; तो भी सत शास्त्र और गुरुजनों के उपदेश से छिपी हुई अक्लिष्ट वृत्तियां पुनः जागृत हो जाती हैं। वृत्तियों का यह स्वभाव है कि क्लिष्ट वृत्तियां क्लिष्ट संस्कारों को एवं अक्लिष्ट वृत्तियां अक्लिष्ट संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार जाग्रत अक्लिष्ट वृत्तियां अक्लिष्ट संस्कारों को और अक्लिष्ट संस्कार अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। इस चक्र के निरन्तर चलने पर क्लिष्ट वृत्तियों का शमन हो जाता है। परन्तु इनके संस्कार सूक्ष्म रूप से अक्लिष्ट वृत्तियों के बीच में बने रहते हैं, उनका नाश निर्बीज समाधि से होता है। फिर अक्लिष्ट वृत्तियों का भी पर-वैराग्य से निरोध हो जाता है। वृत्तियों के निरोध होने पर असम्प्रज्ञात-योग सिद्ध होता है।

पांचों वृत्तियों के नाम अगले सूत्र से जानिये।

प्रमाण विपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥६॥

सूत्रार्थ १—प्रमाण (सत्य ज्ञान) २—विपर्यय (उल्टा ज्ञान)

३—विकल्प (मनो कल्पना) ४—निद्रा, ५—स्मृति-पांच वृत्तियां हैं ।

व्याख्या—इन पांचों वृत्तियों के लक्षण अगले सूत्र में कहेंगे। प्रमाण वृत्ति के तीन भेद कहते हैं।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

सूत्रार्थ—प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की है—१—प्रत्यक्ष २-अनुमान ३-आगम (वेद शास्त्र)।

व्याख्या—यथार्थ ज्ञान का जिस साधन के द्वारा बोध होता है, उसे प्रमाण कहते हैं। वह प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की है:—

(१) प्रत्यक्ष—मन बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा जो पदार्थ प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं और जिनके सम्बन्ध में कोई संशय नहीं रहता, वे प्रत्यक्ष हैं।

(२) अनुमान—प्रत्यक्ष पदार्थों के आधार पर तर्क और युक्तियों से जिनकी सम्भावना मानी जाय, जैसे धुआँ देखकर यह अन्दाज लगाया जाता है कि यह धुआं उठ रहा है, यहाँ अग्नि अवश्य होगी, एवं नदी में बाढ़ आई देखकर दूर देशों में वर्षा होने का ज्ञान होना अनुमान है।

(३) आगम—वेद शास्त्र तथा यथार्थ वक्ता पुरुषों के वचन को आगम कहते है। जो पदार्थ मनुष्य की इन्द्रियों के प्रत्यक्ष नहीं है और जहाँ अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता, उसके स्वरुप का ज्ञान वेद, शास्त्र तथा महापुरुषों के वचनों से लगाया जाता है, यही आगम है।

जिन प्रत्यक्ष दर्शनों से संसार की क्षणभंगुरता निश्चय होकर और उनमें दुःख की प्रतीति होकर मनुष्य का संसार के सभी पदार्थों से वैराग्य हो जाता है और जो योग साधन में श्रद्धा, उत्साह, बढ़ाते हैं, उनसे होने वाली प्रमाण वृत्ति अक्लिष्ट है तथा जिन प्रत्यक्ष दर्शनों से मनुष्य को संसार के पदार्थ नित्य और सुखरूप मालूम होते हैं, भोगों में

आसक्ति हो जाती है, जो वैराग्य विरोधी भाव बढ़ाते हैं, उनसे होने वाली वृत्ति क्लिष्ट है। इसी प्रकार अनुमान तथा आगम वृत्तियां भी क्लिष्ट-अक्लिष्ट दो प्रकार की होती हैं।

प्रमाण वृत्ति के बाद अब विपर्यय वृत्ति को बताते हैं।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम् ॥८॥

सूत्रार्थ—किसी वस्तु की जो स्थिति नहीं है फिर भी मिथ्या ज्ञान वश वैसी मान लेना विपर्यय है।

व्याख्या—जो ज्ञान वस्तु के यथार्थ रूप से कभी भी न हटकर वस्तु के ठीक-ठीक रूप को ही प्रकाशित करता है, वह सत्यज्ञान(यथार्थ ज्ञान) है। जहां वस्तु अन्य हो और चित्त वृत्ति अन्य प्रकार की हो, वहाँ चित्त की वृत्ति उस वस्तु के यथार्थ रूप में स्थित नहीं होती है, वह विपर्यय ज्ञान है। जैसे दूर से चमकती हुई सीप को चांदी समझ लेना, अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी को सांप मान लेना और नित्य चेतन आत्मा को जड़ अन्तिम मानना, आंख को अँगुली से दबाकर एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा दिखाई पड़ने से दो ही मान लेना आदि।

यह विपर्यय ज्ञान १—अविद्या, २—अस्मिता, ३—राग ४—द्वेष, ५—अभिनिवेश—पांच प्रकार का है। यही पांच क्लेश हैं। इनका वर्णन साधन पाद के तीसरे सूत्र में होगा। इन्हीं को सांख्य परिभाषा में तम, मोह, महा-मोह, तामिस्र, अन्ध-तामिस्र कहते हैं। अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख, अनात्मा में आत्मा का ज्ञान अविद्या है, बुद्धि में आत्म बुद्धि अस्मिता है, सुख की इच्छा लोभ की वृति का नाम राग है, सुख साधन में विघ्न डालने वालों के प्रति घृणा अथवा द्वेष है और मृत्यु से भय की वृत्ति का नाम अभिनिवेश है।

आगे के सूत्र में विकल्प वृत्ति कहते हैं।

शब्दाज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

सत्रार्थ—शब्द के आधार पर उत्पन्न हुआ ज्ञान परन्तु जिसका विषय वास्तव में नहीं है, वह विकल्प है।

व्याख्या—केवल शब्द के आधार पर बिना हुये यथार्थ की कल्पना करने वाली जो चित्त की वृत्ति है, वह विकल्प वृत्ति है 'जैसे गधे के सींग' यह शब्द कहीं लिखा हुआ देखकर या सुनकर यह मान लेना कि गधे के सींग होते हैं अथवा बाँझ का पुत्र जाता है किन्तु बाँझ के पुत्र होता ही नहीं, उसको मानना विकल्प वृत्ति है। सुनी सुनाई बातों के आधार पर मनुष्य नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करता है। उन सबको विकल्प वृत्ति के ही अन्तर्गत समझना चाहिये। विकल्प वृत्ति भी दो प्रकार की होती है—क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट। मनुष्य सुनी बात के आधार पर अपनी इच्छानुसार भगवान के रूप की कल्पना करके भगवान का ध्यान करता है, परन्तु जिस रूप का वह ध्यान करता है वह रूप न तो उसने देखा है, न वेदोक्त है और न वैसा भगवान का स्वरूप ही होता है केवल कल्पना मात्र है। यह विकल्प वृत्ति भगवान के विचार में लगाने वाली होने से अक्लिष्ट है। दूसरी जो भागों में प्रवृत्त करने वाली विकल्प वृत्तियां हैं, वे क्लिष्ट हैं।

आगे के सूत्र में निद्रा-वृत्ति कहते हैं।

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

सूत्रार्थ—अभाव के ज्ञान की प्रतीति निद्रा वृत्ति है।

व्याख्या—निद्रा की स्थिति में किसी विषय का ज्ञान नहीं रहता, ज्ञान रहता है कि सोने के समय की बातों की कुछ जानकारी नहीं है। इस ज्ञान के अभाव का नाम ही निद्रा है। जैसे सोकर उठने पर कोई मनुष्य कहता है कि मैं ऐसे सुख से सोया कि उस सोते समय क्या-क्या हुआ इसका कुछ भी पता नहीं है। निद्रा भी चित्त की वृत्ति विशेष है।

कोई विद्वान निद्रा को चित्त वृत्ति नहीं मानते, किन्तु योग के प्रवर्तक योग सावन में चित्त की प्रत्येक अवस्था को वृत्ति मानते हैं। निद्रा भी क्लिष्ट अक्लिष्ट दो प्रकार की है। निद्रा से जगने पर मनुष्य के मन में सात्विक भाव पैदा होवे, आलस्य नष्ट हो जावे, वह अक्लिष्ट है तथा तमोमयी निद्रा योग साधन में विघ्न उत्पन्न करने वाली क्लिष्ट है।

अब स्मृति को बताते हैं।

अनुभूत विषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

सूत्रार्थ—जाने हुये विषयों को न भूलना अर्थात् "धारणा शक्ति" स्मृति है।

व्याख्या—देखे, सुने या अनुभव में आये हुये अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा वृत्तियों के द्वारा अनुभव में आये हुये विषय बीजरूप से मस्तिष्क में रहते हैं, पुनः प्रसंग आने पर वह स्मरण हो जाते हैं। चित्त की यह प्रक्रिया स्मृति कहलाती है। स्मृति भी दो प्रकार की होती है क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट। जिस स्मरण से मनुष्य का भोगों में वैराग्य होता है तथा जो योग-साधन में श्रद्धा और उत्साह बढ़ाने वाली एवं आत्म ज्ञान में सहायक है वह तो अक्लिष्ट है और जिससे भोगों में आसक्ति होती है, वह क्लिष्ट है। अतः योग साधन में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध करना परम आवश्यक है। जब तक चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध न होंगी, तब तक योगी नहीं कहा जा सकता।

इन वृत्तियों के निरुद्ध होने का उपाय अगले सूत्र में कहते हैं।

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥

सूत्रार्थ—अभ्यास और वैराग्य से उनका निरोध होता है।

व्याख्या—चित्त की जो वृत्तियां तमोगुण के संसर्ग से निद्रा, आलस्य, निरुत्साह, पैदा करती हैं, वह अभ्यास से निरुद्ध हो जाती हैं।

रजोगुण की बाहुल्यता से चित्त में राग, द्वेष, चंचलता, सांसारिक विषयों में कामना आदि की वृत्तियां वैराग्य से उन विषयों में घृणा उत्पन्न होकर, वैसे ही अन्तर्मुख होकर लीन हो जाती हैं जैसे ईंधन के जल जाने पर अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य दोनों से ही चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं। जैसे एक पहिये से रथ नहीं चल सकता है उसी प्रकार केवल अभ्यास के द्वारा या केवल वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरुद्ध होना असम्भव है। गीता में श्री भगवान् ने अर्जुन से कहा है "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" हे अर्जुन मन को अभ्यास द्वारा और वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है। इस चित्त विषय पर किसी महात्मा ने उदाहरण दिया है—

'चित्त एक नदी के समान है जिसमें वृत्तियों का बहाव ही जल है। इसकी दो धाराएें, एक संसार सागर में मिलती है, दूसरी कल्याण रूपी सागर में गिरती है। जिन मनुष्यों के संस्कार सांसारिक विषयों के भोग भोगने के लिये, उनकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण दुःख-सुख रूपी विषम मार्ग से संसार सागर में जा मिलती है। और जिन्होंने कैवल्यार्थ काम किये हैं, उनकी मनोवृत्तियां संस्कारों द्वारा विवेक मार्ग द्वारा बहती हुई कल्याण सागर में जा गिरती हैं। विषयासक्त मनुष्यों की पहिली धारा जन्म से ही खुली रहती है किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र एवं सन्तों के वचन खोलते हैं। पहिली धारा रोकने का वैराग्य का बांध लगाया जाता है तथा अभ्यास द्वारा दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों का प्रवाह विवेक स्रोत में डाल दिया जाता है; तब प्रबल वेग से सारा बहाव कल्याण सागर में लीन हो जाता है। जैसे किसी नदी के बांध से दो नहर निकलती हैं, पहिली नहर में तख्ता डाल कर उसके जल मार्ग को रोक कर दूसरी नहर में जल छोड़ देते हैं, तो पहली नहर सूख जाती है, इसी तरह अभ्यास और

वैराग्य से दुखदायी चित्त वृत्तियों को सांसारिक विषयों से मोड़कर कल्याण मार्ग में ले जाते हैं।

अभ्यास किस को कहते हैं, यह अगले सूत्र से जानिये।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

सूत्रार्थ—चित्त की स्थिरता के लिये प्रयत्न करना अभ्यास है।

व्याख्या—राजस, तामस, वृत्तियों की चंचलता से रहित होकर चित्त का शान्ति पूर्वक आत्म दिशा में चलना स्थिति कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये शक्ति उत्साह के साथ प्रयत्न करना अभ्यास है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, यह योग के आठ अंग अभ्यास का स्वरूप हैं। संसार के बड़े-से बड़े कठिन असंभव कार्य भी अभ्यास से पूर्ण हो जाते हैं। अभ्यास से मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी आश्चर्य-जनक, प्रकृति विरुद्ध काम करते हैं। यद्यपि चिरसंचित बहिर्मुखी संस्कार इस कार्य में बाधक होते हैं फिर भी दृढ़तापूर्वक अभ्यास करते रहने से वह भी शमन हो जाते हैं और समाधि सिद्ध होती है।

अभ्यास किस तरह दृढ़ होता है वह बताते हैं।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्य सत्कारासेवितो दृढ़ भूमिः ॥१४॥

सूत्रार्थ—वह अभ्यास बहुत काल तक लगातार सत्कार से ठीक-ठीक किया जाने पर दृढ़ अवस्था वाला होता है।

व्याख्या—चित्त प्रचण्ड पवन के समान है। जिस प्रकार पवन फूलों के संसर्ग से सुगन्धित एवं सड़े पदार्थों के संसर्ग से दुर्गन्धित होता है, उसी प्रकार चित्त राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि प्रपंचों में पड़कर बदलता रहता है और इन्द्रियों द्वारा बाह्य-विषयों से

आकर्षित होकर उन जैसे आकार में बदला रहता है। यह सब चित्त की वृत्तियां कहलाती हैं जो अनन्त हैं और हर समय पैदा होती रहती हैं, उनके अनादि जन्मों के संस्कार बीज रूप से चित्त में पड़े चले आ रहे हैं। उनको थोड़े समय में निरुद्ध करना कठिन है क्योंकि थोड़ी सी लापरवाही होने पर विषय वासना पुनः मनुष्य को अपनी ओर खींच लेती है। इसीलिये पातंजलि ने सूत्र में तीन विशेषणों का दीर्घकाल 'नैरन्तर्य' 'सत्कारासेवित' प्रयोग किया है, अर्थात् बहुत काल तक चित्त-वृत्तियों को अभ्यास द्वारा निरोध करके दृढ़ करना चाहिये। यह भी न होना चाहिये कि कभी अभ्यास कर लिया कभी कार्यवश छोड़ दिया। इस तरह अभ्यास करने से दृढ़ नहीं होता। पुनः वह अभ्यास श्रद्धा भक्ति, अत्यन्त लगन और उत्साह के साथ करने से दृढ़ अवस्था वाला होता है। जिनके पूर्व संस्कार, लगन, वैराग्य तीव्र हैं, उनको ज्यादा समय की आवश्यकता नहीं है फिर भी अभ्यासी जनों को घबराना नहीं चाहिये। अभ्यास दृढ़ होने पर बर्हिमुखी वृत्तियों का असर नहीं होता।

अगले सूत्र में अपर वैराग्य कहते हैं।

दृष्टानुश्राविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—देखे और सुने तथा शास्त्र में बताये विषयों में तृष्णा त्यागने की स्थिति वशीकार नामक अपर वैराग्य है।

व्याख्या—विषयों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है—(१) दृष्ट, (२) आनुश्रविक। दृष्ट, जो इस संसार में दृष्टिगोचर होते हैं जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, धन, समपत्ति, अन्न, स्त्री, राज, ऐश्वर्य, आदि। (२) अनुश्राविक, जो महान पुरुषों के द्वारा सुने या वेद-शास्त्रों, में लिखे हैं, जैसे स्वर्गलोक, प्रकृतिलय का आनन्द और ऋद्धि-सिद्ध, दिव्य रस गन्ध आदि। इन दोनों प्रकार के दिव्य-अदिव्य विषयों में चित के राग द्वेषादि विकार न होवें, उस स्थिति की वशीकार संज्ञा-

अपर वैराग्य है। वैराग्य वह नहीं है कि रोग होने से अनिच्छा हो जावे तो स्वादिष्ट अन्नादि भोजन न खावें, या वस्तु जो मिल न सके, या लोभ अथवा डर से छूट जावे या अन्य पुरुष के कहने से त्याग कर दिया जाय क्योंकि उस अवस्था में बीजरूप से तृष्णा मन में बनी रहती है। विवेक द्वारा विषयों को दुःख रूप समझ कर उनमें अरुचि होना ही वराग्य है। वैराग्य की चार संज्ञायें हैं—१—यतमान, २—व्यतिरेक, ३—एकेन्द्रिय, ४—वशीकार।

(१) यतमान—जिन विषयों में अपनी आसक्ति हो उनके दोष, दुष्परिणामों का विचार कर उनसे घृणा हो जाना।

(२) व्यतिरेक—जितना भोग अब तक भोगा है, वह व्यर्थ समझ कर और उसी को पर्याप्त समझ कर सन्तोष करना व्यतिरेक वैराग्य है।

(३) एकेन्द्रिय—परिस्थितियों से विवश होकर या इन्द्रियों में शिथिलता हो जाने से या भोगों के मिलने में कठिनता होने से उपरत हो जाना।

(४) वशीकार—दिव्य अदिव्य, देखे-सुने विषयों के उपस्थित होने पर भी उन्हें विचार दृष्टि से, सन्तों के उपदेश से दुःखदायी जानकर तृष्णा को त्यागकर, वासनाओं को वश में कर लेना, मन को भटकने न देना वशीकार वैराग्य है। इसी को अपर वैराग्य कहते हैं। पहिली तीन भूमि वाले वैराग्य निरोध के साक्षात् हेतु नहीं हैं, निरोध का साक्षात् हेतु चौथी भूमि वाला वशीकार संज्ञक वैराग्य ही है। यह वशीकार पहिली तीन भूमियों को क्रम से लांघ कर प्राप्त होता है। इसका फल सम्प्रज्ञात समाधि है। इसकी ऊँची स्थिति पुरुष और चित्त की भिन्नता प्रतीत कराने वाली विवेक ख्याति है। यह भी चित्त की वृत्ति है। इससे विरक्त होना 'पर-वैराग्य' है; जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है।

अब 'पर-वैराग्य' को कहते हैं।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—आत्मा का ज्ञान होने और प्रकृति के गुणों का स्वरूप समझ में आ जाने से तृष्णा का सर्वथा अभाव होना पर-वैराग्य है।

व्याख्या—अपर वैराग्य द्वारा योगी दिव्य-अदिव्य विषयों में दोष देखकर उनसे विरक्त होता है, चित्त से उनकी तृष्णा दूर हो जाती है तब चित्त एकाग्र होता है, यही सम्प्रज्ञात समाधि है।

इसी ऊँची कक्षा में चित्त और पुरुष के भेद का साक्षात्कार होता हैं। इसको पुरुषख्याति या विवेकख्याति कहते हैं। इसके प्राप्त होने पर ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों चित्त निर्मल होता जाता है और इस स्थिति से भी वैराग्य होने लगता है। तीनों गुणों के प्रति वैराग्य होता है अर्थात् रज, तम, कामनाओं को तो पहिले ही त्याग चुका है, इस स्थिति में वह सतोगुण जिसके फल स्वरूप प्रसन्नता आदि प्राप्त होती है, उन्हें भी त्याग कर उदासीन हो जाता है और आत्मानंद ब्रह्मानन्द में मान लेता है। यह 'पर वैराग्य' है। इसको धर्म-मेघ ज्ञान प्रसादमात्र कहते हैं। इसके निरन्तर अभ्यास से कैवल्य होता है।

अब संप्रज्ञात समाधि तथा उसके भेदों को बताते हैं—

वितर्क विचारानन्दा स्मितानुरूपागमात् सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

सूत्रार्थ—वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता इनके सम्बन्ध से संप्रज्ञात योग होता है।

व्याख्या—संप्रज्ञात समाधि के चार भेद होते हैं। वितर्क के सम्बन्ध से जो समाधि होती है उसको वितर्कानुगत कहते हैं। विचार के सम्बन्ध से जो समाधि होती है, वह विचारानुगत है एवं आनन्द के सम्बन्ध से आनंदानुगत, अस्मिता के सम्बन्ध से अस्मितानुगत समाधि होती है।

(१) वितर्कानुगत—स्थूल पंच भूतों तथा इन्द्रियों की भावना के आधार पर की हुई समाधि । इसमें सूर्य, चंद्र, ग्रह, राम. कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि देवताओं का ध्यान करते हुये चित्त को इसमें तन्मय किया जाता है । जैसे तीर लगाना सीखने के लिये पहिले बड़ा निशाना बोर्ड का लगाते हैं पुनः धीरे धीरे अभ्यास करते-करते छोटा निशाना मारते हैं जब निश्चित बिन्दु पर निशाना ठीक लगने लगता है तब पूर्ण सफलता मानते हैं । उसी तरह स्थूल पदार्थों पर स्थूल इन्द्रियों की सहायता से जो त्राटक आदि किये जाते हैं, वे इस वितर्क समाधि के अन्तर्गत आते हैं ।

(२) विचारानुगत—स्थूल पदार्थों को साक्षात् करने के बाद सूक्ष्म पदार्थों में सूक्ष्म तन्मात्राओं अर्थात् रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के भावात्मक विचार के माध्यम से समाधि होती है । सूर्य आदि स्थूल पदार्थों के बाद उनके तेज आदि का ध्यान करना विचारानुगत है ।

(३) आनन्दानुगत समाधि में विचार शून्य हो जाता है, केवल आनन्द का अनुभव होता है ।

(४) अस्मितानुगत में आनन्द भी नष्ट हो जाता है ।

'पर-वैराग्य' से असम्प्रज्ञात समाधि करते हैं ।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

सूत्रार्थ—**जिसकी पूर्वावस्था विराम प्रत्यय है. तथा जिसमें चित्त की स्थिति संस्कार मात्र शेष रह जाती है वह दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि है ।**

व्याख्या—पहले बता चुके हैं कि सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची स्थिति विवेक ख्याति है । इसमें चित्त और पुरुष में भिन्नता का विवेक ज्ञान होता है किन्तु यह भी चित्त की ही वृत्ति है । इस वृत्ति से भी तृष्णा रहित हो जाना 'पर-वैराग्य' है । 'पर-वैराग्य' से विवेक-ख्याति रूपी अन्तिम वृत्ति का भी निरोध हो जाता है । उसको विराम प्रत्यय कहते हैं अर्थात् 'विराम प्रत्यय' सब वृत्तियों के निरोध का कारण है ।

चित्त की चार प्रकार की अवस्था होती है । (१) व्युत्थान, (२) समाधि प्रारम्भ, (३) एकाग्रता, (४) निरोध ।

व्युत्थान से पैदा हुये संस्कार समाधि-प्रारम्भ से पैदा होने वाले संस्कारों से नाश हो जाते हैं । समाधि प्रारम्भ से उत्पन्न संस्कार एकाग्रता से उत्पन्न होने वाले संस्कारों से पुनः एकाग्रता से उत्पन्न संस्कार निरोध संस्कारों से नाश हो जाते हैं । यही अवस्था विराम प्रत्यय है । इस स्थिति में निरोध के संस्कार—संस्कार शेष कहाते हैं । इसी को असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति कहते हैं । इसमें चित्त का केवल आभास संस्कार रूप से बना रहता है । जैसे अग्नि से सुवर्ण को तपाते हुये उसमें डाला हुआ शीशा सुवर्ण के मैल को जला कर स्वयं जल जाता है, उसी प्रकार निरोध के संस्कारशेष एकाग्रता के संस्कारों को नष्ट करके स्वयं लय हो जाते हैं । जब संस्कार शेष नष्ट हो जाते हैं तब चित्त अपने कारण में लय हो जाता है । प्रकृति संयोग का अभाव होने पर द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है, इसी को कैवल्य कहते हैं । असम्प्रज्ञात समाधि में निरोध के संस्कार बीज रूप दग्ध सदृश रहते हैं । कैवल्य में निरोध के संस्कार भी लय हो जाते हैं । इसी को निर्बीज समाधि कहते हैं, यही अन्तर है । अगले सूत्र में विदेह और प्रकृतिलय योगियों को असंप्रज्ञात योग किस प्रकार होता है, उसको कहते हैं ।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम ॥१९॥

सूत्रार्थ—विदेह और प्रकृतिलय योगियों को जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि का अनुभव होता है ।

व्याख्या—जिन योगियों ने वितर्क समाधि द्वारा स्थूल तत्वों का साक्षात् कर लिया और देह के अहंभाव को समाप्त कर दिया, वे 'विदेह' कहे जाते हैं और जिन्होंने इस से भी आगे की साधना करके प्रकृति के सत्र भेदों का साक्षात्कार करके उनका लय कर दिया, उनको 'प्रकृति-लय' कहते हैं । इन स्थितियों को जिसने पूर्व जन्मों में प्राप्त किया था, वे दूसरे

सतईं सब मोहिंमय जग देखे ।
मोते सन्त अधिक कर लेखे ॥
अठईं जथा लाभ सन्तोषा ।
सपनेहुँ नहिं देखै पर दोषा ॥
नवम सरल सब सों छल होना ।
मम भरोस हिय हरष न दीना ॥

इस प्रकार गोस्वामीजी ने अहंकार और मोह को त्यागकर सब जीवों को राममय दृष्टि से देखना और सन्त सेवा—परोपकार धर्म का पालन करना ईश्वर भक्ति का मुख्य लक्षण बतलाया है । पातंजल योग-दर्शन में भी "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" सूत्र में ईश्वर भक्ति को योग सिद्धि का एक उत्कृट साधन माना गया है । योग मार्ग का प्रधान उद्देश्य मन को शान्त और साम्य अवस्था में लाकर सांसारिक कर्मों को निस्पृह भावना से करना ही है । अष्टाँग-योग द्वारा इस मार्ग का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है और लक्ष्य को प्राप्त करने की विशेष शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है । पर साथ ही उस मार्ग में विघ्न भी काफी आते हैं और शक्ति की प्राप्ति के कारण सदैव अहंकार की वृद्धि और पतन की आशंका बनी रहती है । इस दृष्टि से गोस्वामी जी का बतलाया भक्तियोग सामान्य श्रेणी के व्यक्तियों के लिये विशेष अनुकूल और सुलभ सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं ।

अन्य प्रसिद्ध योग मार्ग

सांख्य योग—

कपिल मुनि का जो सांख्य-दर्शन लोक में प्रसिद्ध है, उसका मुख्य विषय पुरुष और प्रकृति का विवेचन और उसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति है । उसमें योग-साधन जैसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती । पर श्रीमद्-भगवत गीता में भगवान् कृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में जो सर्व श्रेष्ठ उपदेश दिया है और महान् सिद्धान्त बतलाये हैं, उनका नाम

उन्होंने सांख्य-योग ही रखा है। फिर उसके पश्चात् तीसरे अध्याय के आरम्भ ही में उन्होंने कहा है—

लोकेऽस्मिन्द्विविद्या निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम ॥

अर्थात्—"हे निष्पाप अर्जुन ! मैं तुझे पहले ही बतला चुका हूं कि इस लोक में दो प्रकार की निष्ठायें है—अर्थात् ज्ञान योग से सांख्यों की और कर्मयोग से योगियों की।"

भगवान श्रीकृष्ण स्वयं सांख्य-योग का उपदेश करते हैं और अन्त में उसका फल बतलाते हुये दूसरे अध्याय के अन्त में कहते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

अर्थात्—"हे पार्थ ! ब्राह्मी स्थिति यही है। इसे पा लेने पर कोई मोह में नहीं फँसता और जो मरने के समय अन्त काल तक इस स्थिति में रहा आता है, वह ब्रह्म-निर्वाण—मोक्ष को पाता है।"

फिर यह सांख्य-योग क्या है ? यद्यपि भगवान कृष्ण ने गीता में ही एक स्थान पर यह भी कह दिया है कि "सांख्य और योग को बुद्धिहीन व्यक्ति ही पृथक् समझते हैं, पण्डित लोगों की दृष्टि में वे एक ही हैं।" तो भी सांख्य तथा कर्मयोग में कुछ अन्तर अवश्य है। गीता के पांचवे अध्याय (८।९) सांख्य-योगी का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यन् शृणवन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन स्वपन्श्वसन् ॥
प्रलपन्वि सृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

अर्थात्—"योग युक्त तत्ववेत्ता पुरुष को समझना चाहिये कि "मैं

कुछ भी नहीं करता, और देखने में, सुनने में, स्पर्श करने में, रखने में, सूंघने में, चलने में, सोने में, सांस छोड़ने में, बोलने में, विसर्जन करने में, लेने में, आंखों के पलक खोलने और बन्द करने में भी ऐसी ही बुद्धि रखकर व्यवहार करे कि केवल इन्द्रियाँ अपने आप विषयों में बर्तती हैं।"

कर्म योग की व्याख्या करते हुये गीता में "योग: कर्मसु कौशलम्" कहा गया है और उसकी विधि "तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग समाचर" बतलाई है। अर्थात् मनुष्य सब कर्मों को समत्व-भावना-पूर्वक करे और फलाशा का सर्वथा त्याग करदे तो किसी कर्म का बुरा परिणाम उसे सहन नहीं करना पड़ेगा। इस प्रकार कर्मयोग का पालन करने वाला अपने को कर्मों का कर्त्ता समझता है, यद्यपि उसे फलाशा नहीं रहती। पर सांख्य-योग का अनुयायी अपने को कर्मों का कर्त्ता भी नहीं समझता। वह आत्मा को निर्लेप समझकर यही मानता है कि प्रकृति इन्द्रियों से काम कराती है, मुझ आत्म-स्वरूप को उससे कुछ लेना-देना नहीं। इस प्रकार सांख्य-योग में सन्यास का आदर्श और भावना काम करती रहती है, चाहे मनुष्य सांसारिक कर्मों से कम या ज्यादा कितना भी सम्बन्ध क्यों न रखे।

ध्यान योग—

अष्टाँग योग के साधनों में ध्यान का सातवाँ स्थान है। इसका उद्देश्य समस्त चित्त-वृत्तियों को एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित करके अन्य समस्त वृत्तियों का परिहार कर देना होता है, जैसा कि पातंजलि ने लिखा है।

तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम ॥३-२॥

अर्थात्—"उस ध्येय चित्तवृति का एकतान (एक-सा) बना रहना ध्यान है।" वास्तव में ध्यान ही हर तरह के योग-मार्ग का अन्तिम साधन है। जब शरीर, प्राण और मन का संयम और परिष्कार करते-करते चित्तवृत्तियों का भली प्रकार निरोध होने लगता है, इधर-उधर

भटकने के बजाय मन में एक जगह केन्द्रित होने की शक्ति आ जाती है तब ध्यान का दर्जा सन्मुख आता है। इसके लिये साधक को प्राणमय शरीर से अग्रसर होकर मनोमय शरीर को पार करने की आवश्यकता होती है। इस समय शारीरिक क्रियाओं का अन्त हो जाता है और केवल मानसिक शक्ति से ही प्रयत्न करना पड़ता है। जब मनुष्य मन के द्वारा यथार्थ रूप से विचार करने में समर्थ हो जाता है और लगातार उसी एक विचार पर स्थिर रह सकता है, तो वह ध्यान की अवस्था होती है। यही ध्यान आगे चलकर समाधि की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जो कि साधन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है।

ध्यान के इस महत्व को समझकर कुछ विद्वानों ने अन्य अंगों का गौण रूप से साधन करके विशेष बल ध्यान पर ही दिया है। उनका विचार है कि हठयोग के समान कठिन शरीर-शोधन, आसन, प्राणायाम आदि में बहुत अधिक परिश्रम करना और अनेक बार कुछ भूल हो जाने के कारण हानि का खतरा उठाना आवश्यक है। इसके बजाय उत्तम मार्ग यही है कि मुख्य रूप से मन को संयत और संयमित करने का अभ्यास करके ध्यान को ही पक्का किया जाय। जब बाह्य विषयों से मन तथा वृत्तियों को हटाकर एक ही लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र कर सकने की योग्यता प्राप्त हो जायगी तो सांसारिक विषयों से मन स्वयं ही उपराम हो जायगा और आत्म-दर्शन की स्थिति को पहुँचना संभव होगा। इसी से ध्यान योग की विशेष विधियों का आविष्कार और प्रचार किया गया है और कितने ही सम्प्रदायों में उसी का मुख्य रूप से अभ्यास किया जाता है। इस विषय का प्रतिपादन करते हुये आधुनिक काल के एक साधक ने लिखा है—

"अल्पज्ञ जीवात्मा अविद्या के कारण अन्तःकरण तथा इन्द्रियों के वशीभूत होकर अनेक विषय के फन्दों में फंसा हुआ भांति-भांति के संकल्प विकल्परूप मानसिक तथा इन्द्रियों द्वारा अधर्मयुक्त चेष्टायें करता हुआ,

विविध संशयों में व्याकुल होता हुआ एक अधोगामी चक्र में भ्रमण करता रहता है। ध्यान-योग द्वारा इस चक्र भ्रमण रूप प्रवाह का सर्वथा निवारण करके जब उक्त जीव परमात्मा में प्रीति करता है, तब योग को प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा के ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन ध्यान ही है। यह नियम है कि बिना ध्येय पदार्थ के ध्यान नहीं हो सकता। अतएव ध्यान-योग की विधि के अनुसार क्रम से स्थूल से स्थूल पदार्थों से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों को ध्येय बनाकर निरन्तर कुछ काल तक अभ्यास करके उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इन पदार्थों का ज्ञान होने के पश्चात् जीवात्मा को अपने स्वरूप का भी ज्ञान होता है। अपने स्वरूप का ज्ञान होते ही जीवात्मा, परमात्मा को भी विचार लेता है, क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा के ज्ञान में एक प्रकार की समता होती है।"

ध्यान योग के मुख्यतः दो भेद माने गये हैं। एक स्थूल ध्यान और दूसरा सूक्ष्म ध्यान। तांत्रिक लोग एक तीसरे प्रकार का ध्यान "ज्योति-ध्यान" भी मानते हैं। दिखाई पड़ने वाले या न दिखाई पड़ने वाले पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जो ध्यान किया जाता है, वह स्थूल ध्यान है। इसके लिये राम, कृष्ण, शिव आदि जिस किसी देवता की मूर्ति जो अपने को प्रिय लगती हो अथवा अपने इष्ट देव या गुरु आदि का चित्र जिस पर हमको पूर्ण श्रद्धा हो, बार-बार अन्तर चक्षुओं से देखने का अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार का स्थूल ध्यान प्रायः सभी साधकों के लिये सुगम होता है, क्योंकि उसमें केवल देखे हुये पदार्थ के भिन्न भिन्न अङ्गों को बार-बार स्मृति में लाना पड़ता है। इस प्रकार के अभ्यास द्वारा साधक किसी व्यक्ति या मूर्ति का ध्यान करते-करते निद्रित हो जाने पर उस अवस्था में भी उसके साथ वार्तालाप या विचार विनिमय कर सकता है। इस तरह के अभ्यास से कई प्रकार के लाभ भी हो सकते हैं और इसलिये ध्यान-योग के कितने ही अभ्यासी ध्येय पदार्थ

के रूप में अपने गुरु या किसी अन्य महापुरुष के चित्र को ही ग्रहण करते हैं। इस विधि से अभ्यासी को कुछ ऐसी शक्ति भी प्राप्त हो जाती है जिससे वह अनेक अज्ञात बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। सर्व साधारण इसे एक बड़ी सिद्धि समझने लगते हैं। पर यह बात साधक के लिये हानिकारक ही सिद्ध होगी। इस प्रकार के दर्शन से स्वार्थी लोग उसे घेरने लगेंगे और उसका आत्मोन्नति का प्रयास रुक जायगा।

इसलिये ध्यान-योग का अभ्यास करते हुये सर्वोत्तम ध्यान ओंकार अथवा अजपा गायत्री (सोऽहं) का माना गया है। इस सम्बन्ध में "ध्यान बिन्दु उपनिषद्" में कहा है—

ओंकार यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः।
प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत्।
निवर्तन्ते क्रिया सर्वास्तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थात्—"इस प्रकार ॐकार को जो नहीं जानता वह ब्राह्मण नहीं माना जा सकता। यह प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। बाण से सावधानी के साथ तन्मय होकर इस लक्ष्य को बेंध करने से और 'अवर' को जान लेने से सब क्रियाओं की निवृत्ति हो जाती है।" तदुपरान्त ब्रह्म की प्राप्ति में सन्देह नहीं रहता।

जप योग—

योग-दर्शन में योग का प्रधान लक्षण अव्यवस्थित चित्तवृत्तियों का निरोध करके उनको आत्मा या परमात्मा पर एकाग्र करना बतलाया गया है। इस दृष्टि से जपयोग विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें जितनी जल्दी और सहज में चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है, उतनी और किसी उपाय से नहीं होती। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोस्मि स्थावराणां हिमालय ॥

(गी० १०-२५)

इस कथन में भगवान ने स्पष्टतः सब प्रकार के यज्ञों में जप-यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। मनुस्मृति में भी जप-यज्ञ की महिमा का बखान करते हुये उसे कर्मकाण्ड वाले यज्ञों की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ और आत्मा का कल्याण करने वाला कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः॥
ये पाकयज्ञश्चत्वारो विधियज्ञ समन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम॥
[म० २०८५, ८६]

अर्थात्—"दर्श पौर्णमास रूप कर्म यज्ञों की अपेक्षा जप-यज्ञ दस-गुना श्रेष्ठ है। उपांशु जप सौ गुना और मानस जप सहस्र गुना श्रेष्ठ होता है। कर्मयज्ञ के चार पाक-यज्ञ हैं। वे जप-यज्ञ के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है।"

जप-योग में सब से अधिक महत्व का जप ॐकार अथवा गायत्री माना गया है, क्योंकि ये दोनों वेदोक्त हैं। इनके पश्चात् पौराणिक मन्त्र हैं जिनमें विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, दुर्गा, गणेश, हनुमान आदि किसी देवता के मन्त्र का किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए जप किया जाता है। आजकल सर्व साधारण में इनका ही विशेष रूप से प्रचार है, क्योंकि ये संक्षिप्त और सरल होते हैं और साधारण लोग भी साँसारिक लाभ की पूर्ति के निमित्त सहज में इनका जप कर सकते हैं। पर किसी प्रकार का जप किया जाय उसमें हृदय की तल्लीनता और एकाग्रता आवश्यक है और यही जप का सबसे बड़ा लाभ है। इससे शीघ्र नहीं तो कुछ अधिक समय में मन में धार्मिकता और आध्यात्मिकता के भावों का उदय होता ही है और तब साधक अधिक ऊँची सीढ़ी पर चढ़ कर आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होता है।

जो लोग नियमपूर्वक गुरु से किसी मन्त्र की दीक्षा लेकर विधिपूर्वक

उसका जप आरम्भ करते हैं और निष्ठापूर्वक उसमें सदैव संलग्न रहते हैं वे आत्मकल्याण के मार्ग में अवश्य सफलता प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के जपयोग के अनेक रूप हो सकते हैं जो अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ग्रहण किये जा सकते हैं। इनमें से मुख्य रूप ये हैं—(१) नित्य जप, (२) नैमित्तिक जप, (३) काम्य जप, (४) प्रायश्चित जप, (५) अचल जप (६) चल जप, (७) वाचिक जप, (८) उपांशु जप, (९) भ्रमर जप, (१०) मानस जप, (११) अखण्ड जप, (१२) अजपा जप। इनमें किसी भी प्रकार से विधिपूर्वक जप किया जायगा तो उसमें अष्टांग योग की विधियों का ही समावेश होगा और साधक को वैसा ही फल भी प्राप्त होगा।

कुण्डलिनी-शक्ति योग—

योग विद्या के अभ्यासियों का कथन है कि मानव शरीर के भीतर एक शक्ति-केन्द्र होता है जो साधारणतः अविकसित अवस्था में रहकर शारीरिक कृत्यों में सहायता पहुँचाया करता है। पर जब इसे अभ्यास द्वारा जागृत कर दिया जाता है तो रीड़ की हड्डी के नीचे स्थित कुण्डलिनी-शक्ति षट चक्रों को भेदती हुई मस्तिष्क में स्थित सहस्रार-चक्र तक जा पहुँचती है, जिससे आत्मा पर पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण सर्वथा दूर हो जाता है और साधक परमात्म तत्त्व को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। कुण्डलिनी के जागरण और अभ्यास द्वारा उसे चालित करने से तरह-तरह की दिव्य शक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं, जिनके उपयोग से मनुष्य महान् कार्यों का सम्पादन करके अपने जीवन को सार्थक बना सकता है।

यद्यपि आधुनिक शरीर-विज्ञान के ज्ञाताओं को, जो शरीर को चीर-फाड़ कर उसके विभिन्न अंगों का पता लगाते हैं, कुण्डिलिनी शक्ति तथा चक्रों का कुछ भी पता नहीं लगता, पर जिन लोगों ने योग-क्रियाओं का अभ्यास किया है, वे इसका भली प्रकार अनुभव कर चुके हैं। वास्तव

में कुण्डलिनी किसी स्थूल अंग के रूप में नहीं है, वरन् वह जीव की एक शक्ति है जो 'प्राण' की तरह ही उसकी स्थिति तथा विकास के लिये आवश्यक मानी गयी है। यों ग्रन्थों में "स्वयम्भू लिंग पर साढ़े तीन लपेटे खाकर सोती हुई सर्पाकर शक्ति" के रूप में उसका वर्णन किया गया है। पर विद्वान लोग जानते हैं कि यह अलंकारिक वर्णन है, जो साधकों को अभ्यास की सुविधा के लिये बतलाया जाता है। वास्तव में यह विद्युत की तरह एक सूक्ष्म शक्ति है जिसका विधिवत् विकास और प्रयोग करने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के मार्ग में पर्याप्त अग्रसर हुआ जा सकता है। यह तथ्य केवल योग मार्ग के प्राचीन ग्रन्थों में ही वर्णन नहीं किया गया है वरन् आधुनिक समय के बहुसंख्यक विदेशी विद्वानों ने भी इसे स्वीकार किया है और अभ्यास द्वारा उसका अनुभव भी प्राप्त किया है। इन विद्वानों में सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम सरजान वुडरफ का है, जिन्होंने कलकत्ता हाईकोर्ट के जज के रूप में काम करते हुए हिन्दू-तन्त्र शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था और इस सम्बन्ध से कई बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी थीं जो संसार के विद्वत् समाज में माननीय और प्रामाणिक मानी जाती हैं। उन्होंने "दी सरपैण्ट पॉवर" के नाम से एक छः-सात सौ पृष्ठ का ग्रन्थ लिखा है जिसमें संस्कृत के "षट चक्र निरूपण" नामक ग्रन्थ का अनुवाद और विस्तृत व्याख्या करते हुए कुण्डलिनी योग का बड़ी स्पष्ट और मार्मिक रीति से वर्णन किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही बतलाया है कि किस प्रकार कुण्डलिनी-योग प्राचीन काल से उपनिषदों तथा पुराणों द्वारा प्रचारित किया गया और तत्पश्चात् संसार के अन्य धर्मों तथा देशों में भी वह फैल गया। वे लिखते हैं—

"तन्त्र-शास्त्र के षट् चक्रों का वर्णन योग-उपनिषदों तथा कई पुराणों में पाया जाता है और हठ योग के ग्रन्थों में भी उनका विवेचन किया गया है। इतना ही नहीं भारतवर्ष से बाहर के साधन मार्गों में

उसके चिन्ह मिलते हैं जो सम्भवतः भारतीय ग्रन्थों से ही लिये गये हैं। उदाहरण के लिए दिल्ली के सम्राट शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने "रिसालये-हक-नुमा" में तीन योग-चक्रों का उल्लेख 'दिल-ए-मुहव्वर' 'दिल-ए-सनोवरी' 'दिल-ए-नीलोफरी' (हृदय-पद्म) के नाम से किया है। ईरान के सूफी साधकों ने भी भारतीय-योग की कुण्डलिनी साधना को अपनाया था इसका जिक्र करते हुये शेख मुहम्मद इकबाल ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि "इस तरह की साधन विधियाँ सर्वथा इस्लाम मत के सिद्धान्तों से बाहर की है और उच्च कोटि के सूफी उनको कुछ महत्व नहीं देते।" पर इतिहास से यह विदित होता है कि प्रसिद्ध अरबी लेखक अलबरूनी ने, जो ग्यारहवीं शताब्दी में भारत आया था, पतंजलि के योग-दर्शन और सांख्य सूत्रों का अपनी मातृ-भाषा में अनुवाद किया था। अमरीका की प्राचीन माया सभ्यता के जो लेख मिले हैं उनमें भी 'हुराकन' (विद्युत) के नाम से कुण्डलिनी-शक्ति-केन्द्र का वर्णन किया गया है।"

सरजान वुडरफ के ग्रन्थ में कुछ ऐसे उदाहरण भी दिये गये हैं कि किसी आकस्मिक घटनावश किसी व्यक्ति की कुण्डलिनी जागृत होकर मस्तिष्क की ग्रन्थी (ग्लैण्ड) में पहुँच गयी और वह व्यक्ति मृतवत् जान पड़ने लगा। इसी प्रकार का कोई व्यक्ति योग शास्त्र में वर्णित क्रियाओं को खेल की तरह कर रहा था कि संयोगवश श्वाँस की गति और शरीर की स्थिति कुण्डलिनी-योग के अनुसार ठीक-ठीक हो जाने से उसे समाधि की अवस्था प्राप्त हो गयी और देखने वालों को उसके मर जाने का सन्देह हुआ। पर एक व्यक्ति ने जो इस विषय में कुछ जानकारी रखता था, उसके मस्तिष्क को छूकर देखा तो वहाँ गर्मी जान पड़ी। उसने खोपड़ी पर घी मलना शुरू किया जिससे गर्मी धीरे-धीरे बढ़ने लगी और थोड़ी देर में सारा शरीर गर्म होकर वह व्यक्ति उठ बैठा। इसी प्रकार एक योरोपियन ने भी पुस्तक में पढ़कर कुछ अभ्यास करने

की चेष्टा की तो उसे अनुभव हुआ कि मानो एक हल्के लाल और नीले वर्ण का प्रकाश मस्तक पर आकर सिर के दोनों तरफ से बाहर निकल कर उड़ रहा है।

अब हम योगी पूर्णानन्द रचित 'षट-चक्र निरूपण' से, जिसकी व्याख्या स्वरूप सरजन वुडरफ ने अपना 'सरपैण्ट पावर' ग्रन्थ लिखा है कुण्डिलनी शक्ति के वर्णन सम्बन्धी तीन श्लोक उद्धृत करते हैं। यद्यपि योग के अनेक ग्रन्थों में यही बातें पाई जातीं हैं पर स्वामी पूर्णानन्द ने जैसे साहित्यिक, प्राञ्जल और प्रसाद गुणयुक्त भाषा में यह वर्णन किया है, वह अन्यत्र देखने में नहीं आया।

तन्मध्ये लिङ्गरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्यो
ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथम किसलयाकाररूपः स्वयम्भुः।
विद्युत्पूर्णेन्दुबिम्बुप्रकरकरचयस्निग्धसन्तानहासी काशो—
वासी विलासी विलसति सरिदावर्त्तरूप प्रकारः ॥९॥
तस्योर्द्ध्वे विसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम्।
शंखावर्त्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा—
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत्सार्द्धत्रिवृताकृतिः ॥१०॥
कूजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं
वाचं कोमलाव्यबन्ध रचनाभेदातिभेदैक्रमः।
श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्य्यंते
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्तावलिः ॥११॥

अर्थात्—"त्रिकोण के भीतर स्वयम्भू लिङ्ग है जिसका वर्ण स्वर्ण के समान है और जिसका सिर नीचे की ओर है। उस नूतन किशलय के समान देव का प्रकाश ज्ञान ध्यान द्वारा ही सम्भव है। विद्युत और पूर्ण चन्द्रमा के समान ही वह स्निग्ध सौन्दर्ययुक्त है। इस स्वयम्भू लिङ्ग

पर कमल-तन्तु के समान अति सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति सो रही है। वह जगत को मोहित करने वाली है और ब्रह्मद्वार के मुख को अपने मुख से ढके हुये है। शङ्ख की चक्रवत् रेखाओं के समान उसकी चमकीली सर्पाकार आकृति शिव लिङ्ग के चारों ओर साढ़े तीन फेरे लिए हुये है। वह मधुमत्त मक्षिकाओं की तरह गुंजार शब्द कर रही है और सब प्रकार सुन्दर काव्य और गन्ध (चित्र काव्य), गद्य-पद्य साहित्य को उत्पन्न कर रही है। वह जगत के समस्त जीवों को श्वासोच्छ्वास द्वारा धारण किये हुये है और मूलाधार-कमल के अन्तराल में दीपमाला की तरह चमकती रहती है।"

इस महा शक्तिशाली और जीव के विकास में प्रधान सहायिका, कुण्डलिनी को किस प्रकार जागृत करके कार्यशील बनाया जाता है इसकी विधि "योग कुण्डल्युपनिषद्" में इस प्रकार बतलाई है—

प्राणाभ्यासास्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वास्थया धया।
सुषुम्ना लीयते चित्तं न च वायुः प्रधावति ॥६२॥
शुष्के मले तु योगी च स्याद्नतिश्चालिता ततः।
अधोगतिमपानं वै ऊर्द्ध्वगं कुरुते बलात् ॥६३॥
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्त्वा ह्वाह्निना सह गच्छति ॥६४॥
प्राणास्थान ततो वह्नि प्राणापानौ च सत्वरम।
मिलित्वा कुण्डली याति सुषुप्ता कुण्डला कृतिः ॥६५॥
तेनाग्निना च सन्तप्ता पवनेनैव चालिता।
प्रसार्य स्वशरीर तु सुषुम्नावद्नान्तरे ॥६६॥

अर्थात्—"प्राणायाम का नियमित अभ्यास सत्वमयी बुद्धि से करना चाहिये। इसके फलस्वरूप चित्त सुषुम्ना में संलग्न रहता है और उसमें प्राणवायु दौड़ता है। जब मल शोधन होकर प्राण ठीक तरह चलने

लगे तब प्रयत्नपूर्वक अपान की उर्द्ध-गति करनी चाहिये। इसके लिये जो गुदा का आकुंचन किया जाता है, उसे मूलबन्ध कहते हैं। वह अपान ऊपर जाकर अग्नि के साथ संयुक्त होता है और ऊपर चढ़ता जाता है। जब यह अग्नि प्राण स्थान में पहुँच कर प्राणवायु से मिलता है और वे दोनों सोती हुई कुण्डलिनी को प्राप्त होते हैं तो उस उष्णता से तप्त होकर तथा वायु से चलित होकर, कुन्डलिनी सीधी हो जाती है और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।"

यह ऊपर चढ़ती हुई कुण्डलिनी छः चक्र तथा तीन ग्रन्थियों को भेद कर सहस्रार चक्र में पहुँचती है और वहाँ शिव के साथ मिलकर साधक को आत्मानन्द प्राप्त कराती है।

कुण्डलिनी-शक्तियोग के प्रभाव का वर्णन करते हुये एक विद्वान् ने लिखा है कि "इस योग के सिद्ध होने पर श्री भगवती की कृपा से साधक सर्वगुण सम्पन्न होता है, सब कलायें सब सिद्धियां उसे अनायास प्राप्त होती हैं। ऐसे साधक का शरीर १०० वर्ष की आयु तक बिल्कुल स्वस्थ और सुदृढ़ रहता है। मृत्यु उसकी इच्छा आधीन होने से उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। वह सदैव निर्भय होकर आनन्द-निमग्न रहता है। उसके कानों में सदा इस दिव्य-सन्देश की ध्वनि गूँजती रहती है कि "मैं तुम्हारे पीछे उपस्थित हूं।" इससे वह सांसारिक पाप-तापों से छुटकारा पाकर जीवन्मुक्त अवस्था का आनन्द भोगता है।

तन्त्र योग—

तन्त्र-शास्त्र भारत की एक प्राचीन और गूढ़ विद्या है। विद्वानों का मत है कि भगवान बुद्ध के पश्चात् इसका आविर्भाव और प्रचार हुआ और इसे शारीरिक कर्त्तव्यों का पालन करते हुये आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति कर सकने का एक उत्तम साधन माना गया। पर थोड़े ही समय पश्चात् लोग इस शक्ति का दुरुपयोग करने लग गये, जिसके

परिणाम स्वरूप यह विधि बदनाम हो गई। आजकल तान्त्रिक-योग के दो नाम "कौल' तथा बाममार्ग सुनने में आते हैं और सर्व साधारण में इनके सम्बन्ध में यही विश्वास फैला हुआ है कि इनका मन्तव्य मदिरा, मांस, मैथुन आदि के उपभोग में लिप्त रहकर पतित जीवन बिताना है। इन लोगों की कामुकतापूर्ण क्रियाओं के कितने ही सच्चे-झूठे किस्से भी सुनने में आते हैं। पर जब हम तन्त्र-शास्त्र के ग्रन्थों को देखते हैं तो वहां इस मार्ग का कुछ और ही स्वरूप दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ 'मेरु तन्त्र' में वाम-मार्ग का परिचय देते हुये कहा है—

पर द्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता॥

अर्थात्—"जो पर द्रव्य के लिये अन्धा है, पर-स्त्री के लिये नपुंसक है, जो पराई निन्दा के लिये गूंगा है और जो इन्द्रियों को सदा वश में रखता है, ऐसा ब्राह्मण वाम-मार्ग का अधिकारी होता है।"

इस प्रकार "कौल" शब्द की व्याख्या करते हुये तन्त्र-शास्त्र में बताया है—

कुल शक्तिरिति प्रोक्तमकुल शिव उच्यते।
कुलकुलस्य सम्बन्ध कौलमित्यभिधीयते॥

अर्थात्—"कुल शब्द शक्ति का वाचक है और 'अकुल' शब्द शिव का बोधक है। कुल और अकुल के सम्बन्ध को कौल कहते हैं।"

शैववैष्णवदौर्गकिगाणपत्यादिकैः क्रमात्।
मन्त्रै विशुद्धाचित्तस्य कौलज्ञान प्रकाशते॥

अर्थात्—"शैव, वैष्णव, शक्ति, सौर, गणपत्य आदि सिद्धान्तों के मन्त्रों द्वारा चित्त की शुद्धि हो लेने के पश्चात् कौल ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) की प्राप्ति होती है।"

यह सत्य है कि जिस प्रकार प्रत्येक उच्च और उपयोगी सिद्धान्त और सम्प्रदाय में कालान्तर में तरह-तरह के विकार और दोष उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार तन्त्र-मार्ग का भी अधिकांश में रूपान्तर हो गया है और साधारण लोगों ने उसे मारण, मोहन, वशीकरण जैसे निकृष्ट, दूषित कार्यों का ही साधन समझ लिया है। पर अपने मूल रूप के उसका यही उद्देश्य जान पड़ता है कि जो लोग घर गृहस्थी को त्याग करके तप और वैराग्य द्वारा आत्म साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, वे अपने सांसारिक जीवन का निर्वाह करते हुये भी आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति कर सकें। इस बात को तन्त्र ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से कहा भी गया है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरी सेवन तत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

अर्थात्—"जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष है वहां भोग नहीं है। किन्तु जो मनुष्य भगवती त्रिपुरसुन्दरी की सेवा में संलग्न है, उनको भोग और मोक्ष दोनों ही सहज साध्य हैं।"

तन्त्र-योग में भी यद्यपि अन्य योग-मार्गों की तरह आठों अङ्गों का समावेश पाया जाता है, पर उसका मूल उद्देश्य कुण्डलिनी शक्ति को जागृत और क्रियाशील करके आत्मशक्ति को प्राप्त करना है। इसका अभ्यास करने में आसन और प्राणायाम की आवश्यकता पड़ती ही है और ध्यान की शक्ति का भी प्रयोग आवश्यक होता है। फिर बाह्य और आन्तर शुद्धि, इन्द्रिय संयम, ब्रह्मचर्य, ईश्वर प्रणिधान आदि यम-नियम साधन तो प्रत्येक आत्म-विकास के मार्ग में करने ही पड़ते हैं।

लय-योग अथवा नादानुसंधान—

योग-मार्ग में नादानुसंधान का बड़ा महत्व कहा गया है और मध्यकालीन अधिकांश महात्माओं ने हठयोग और राजयोग के स्थान में इसी

का किसी न किसी रूप में प्रतिपादन किया है। कारण यह है कि इसके द्वारा चित्त का एकाग्र होकर मन का लय होना अपेक्षाकृत सहज होता है। वैसे लय-योग का उपदेश स्वयं व्यास जी ने ही विशेष रूप से दिया है जैसा "योगराज उपनिषद्" में कहा गया है—

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा ।
कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधिको लयसंज्ञितः ॥

अर्थात्—"वत्सराज आदि के द्वारा मंत्र-योग सिद्ध किया गया तथा व्यास आदि ने लय-योग को सिद्ध किया।"

श्री शंकराचार्य ने भी 'योग तारावली' में नादानुसंधान का बड़ा महत्व बतलाया है—

सदाशिवोक्तानि सपादलक्षयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसंधानसमाधिमेके मन्यामहे मान्यतमं लयानाम ॥
नादानुसंधान नमोस्तु तुभ्य त्वां मन्महेतत्वपदं लयानाम् ।
भगवत् प्रसादात् पवनेन साके विलोयते विष्णुपदेमनोमे ॥
सर्व चिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योग साम्राज्यमिच्छता ॥

अर्थात्—"भगवान सदाशिव ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाये हैं। उन सब में नादानुसंधान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसंधान ! आपको नमस्कार है, आप परम पद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन से ये दोनों विष्णु के परम पद में लय हो जायेंगे। यदि योग-साम्राज्य में स्थिति होने की इच्छा हो तो सब चिन्ताओं को त्याग कर अनहद्नाद सुनो।"

शब्द-ब्रह्म की महिमा सभी आध्यात्मिक ग्रन्थों में वर्णन की गई है और अनेक स्थानों पर उसी की विस्तृत विधि भी बतलाई गई है। कई उपनिषदों में उसके सम्बन्ध में विवेचना करके साधन-प्रणाली बतलाई गई

है। नादबिन्दु 'उपनिषद्' का मुख्य विषय यही है। उसमें नादानुसंधान का वर्णन करते हुये कहा है—

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्राँ सधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गत सदा ॥३१॥
अभ्यास्मानो नादाऽय बाह्यमावृणुतेध्वनिम्।
पक्षाद्विपक्षखिल जित्वा तुर्यं पद व्रजेत् ॥३२॥
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान।
वर्धमानस्तथाऽभ्यासे श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मतः ॥३३॥
आदौ जलधि जीमूते भेरी निर्झर सभवः।
मध्ये मदलाशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा ॥३४॥
अन्ते तु किंकिणी वशवीणाभ्रमर निस्वनः।
इतिनाना विधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥३५॥
महति श्रयमाणे तु महाभेर्यादिक ध्वनौ।
तत्र सूक्ष्म सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत ॥३६॥
धन मुतसृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्म मुत्सृज्य व घने।
रममाणमपि क्षिप्त मनोनान्यत्र चालयेत् ॥३७॥

अर्थात्—"साधक को सिद्धासन पर बैठकर वैष्णवी मुद्रा धारण करनी चाहिये और अनाहत ध्वनि को दायें कान से सुनना चाहिये। इस तरह का नाद का किया गया अभ्यास बाहर की ध्वनियों को ढक लेता है। इस तरह 'अ'कार और 'म'कार के दोनों पक्षों पर विजय प्राप्त करके धीरे-धीरे सारे प्रणव को जीते। इस प्रकार करने पर साधक तुर्यपद को प्राप्त करता है।

"जब पहले पहल अभ्यास किया जाता है तो कई तरह का शब्द होता है और बड़े जोर से सुनाई देता है परन्तु अभ्यास बढ़ जाने पर वह नाद धीमे से धीमा होता जाता है। आरम्भ में इस नाद की ध्वनि समुद्र, मेघ, भेरी, झरने की तरह होती है, तत्पश्चात् घण्टे की तरह कुछ मृदु

शब्द सुनाई पड़ने लगता है और अन्त में किंकणी, वंशी, वीणा, भौंरे का गूंजना जैसा अत्यन्त धीमा हो जाता है। भेरी आदि की ध्वनि सुनने पर उसमें धीमे नाद का विचार करना चाहिये। साधक को चाहिये कि वह धीमे से घने और घने से धीमे नाद में जाय और मन को इधर-उधर न भटकने दे।"

इस प्रकार के अभ्यास से चित्त की चंचलता मिट कर एकाग्रता बढ़ने लगती है और वह स्वयंमेव सांसारिकता की तुच्छ बातों को छोड़कर अध्यात्म जगत की उच्च स्थिति की तरफ आकर्षित होने लगता है। फिर क्या होता है—

ब्रह्म प्रणव संलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः।
मनस्तत्र लय याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
तावदाकाशसंकल्पो यावच्छन्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्द तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीर्यते।
नादो यावन्मनस्तावन्नादान्ते तु मनोन्मनी ॥

अर्थात्—"नाद के प्रणव में संलग्न होने पर वह ज्योतिर्मय हो जाता है उस स्थिति में मन का लय हो जाता है और उसी को विष्णु का परम पद कहते हैं। मन में आकाश का संकल्प तभी रहता है जब तक शब्द बोलते हुये सुनाई देते हैं। शब्द के न रहने पर तो वह परमात्मा का अनुभव करने लगता है।"

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास के मन सब ओर से खिंचकर परमात्म-तत्व में लीन हो जाता है। योग-दर्शन में भी कैवल्य पद की प्राप्ति का मुख्य साधन चित्त को एकाग्र करके आत्मा के स्वरूप में लय कर देना ही माना गया है। जिनमें राजसिक तथा तामसिक भावों की प्रबलता है उनकी बात तो जुदी है पर सात्विकता के प्रेमी व्यक्ति तो इस विधि से निःस्सन्देह बहुत शीघ्र अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। 'शिव संहिता' में नाद की प्रशंसा करते हुये कहा है—

नासन सिद्धसदृशं न कुम्भक समं बलम्।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृश्यो लयः ।।

अर्थात्—"सिद्धासन के समान उपयोगी कोई आसन नहीं है, कुम्भक के समान कोई बल नहीं है, खेचरी से बढ़कर कोई मुद्रा नहीं है और मन को लय करने वाले साधनों में नादानुसंधान की तुलना करने वाला अन्य कोई साधन नहीं हैं।"

भक्ति-योग—

जिसमें भगवान का आश्रय लिया जाय, उनकी शरण ग्रहण की जाय, अपने हृदय को पूर्णतः भगवान में लीन कर दिया जाय, वह "भक्तियोग" की अवस्था होती है। इसके लिये पुराणों में भगवान का कथन है—

मद्गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽबुधौ ।।
लक्षण भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम।

अर्थात्—"गङ्गा प्रवाह की गति जिस तरह समुद्र की ओर अप्रतिरुद्ध और स्वाभाविक होती है, इसी प्रकार मेरे गुणों को सुन, मुझ सर्वव्यापक में मन की जो अविच्छिन्न गति होती है, वही भक्तियोग का लक्षण है।" इसका आशय यही है कि जब मनुष्य किसी स्वार्थ, लालसा या भय के कारण नहीं वरन् मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण भगवान की तरफ जाता है और उन्हीं में तल्लीन हो जाता है तो वह भक्तियोग का अधिकारी माना जाता है, और वह उसी के द्वारा आत्मसाक्षात्कार तथा ब्रह्मसाक्षात्कार में समर्थ होता है।

भक्तिमार्ग में भगवान की नवधाभक्ति का विधान किया गया है, जो इस प्रकार है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्यम् और आत्म-निवेदन। इनमें से प्रत्येक मार्ग का इतना महत्व है कि केवल उसी को सच्चे हृदय से अंगीकार कर लेने से मनुष्य

मोक्ष का भागी हो जाता है । जो सभी प्रकार की भक्ति का आयोजन करते हैं और उसके लिये आत्म समर्पण कर देते हैं, उनके भव सागर पार होने में तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता ।

गीता में श्री भगवान ने भक्ति की महिमा और उसके द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार का प्रतिपादन किया है । साथ ही यह भी संकेत कर दिया है कि भक्ति सच्ची होनी चाहिये, केवल थोड़ी देर भजन कीर्तन करके बाद में स्वार्थ दृष्टि से हर तरह के कर्म-अकर्म करने से वेड़ा पार नहीं हो सकता—

मां च तोऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवतेः ।
स गुणान् समतीत्यैतान ब्रह्म भूयाय कल्पते ।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचित कांक्षति ।
समा सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ।।

अर्थात्—"जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मेरा सेवन करता है, वह प्राकृतिक गुणों को पार करके ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है। ब्रह्मभाव को प्राप्त होने पर उसकी आत्मा प्रसन्न होती है, न वह सोच करता है न आकांक्षा करता है। वह सब भूतों में समान भाव रखता हुआ मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है । इस प्रकार निष्काम भाव से सब प्राणियों को आत्मवत् समझ कर उनकी सेवा और सहायता करने वाला ही भक्ति योग का अधिकारी होता है ।"

जिन साधारण मनुष्यों को मनोनिग्रह, चित्त वृत्तियों को निरुद्ध करने की कठिन साधनायें अपनी सामर्थ्य से बाहर जान पड़ती हैं, उनके लिये श्रीमद्भागवत में भक्ति-योग से सम्बन्धित एक और साधन-विधि बतलाई है, जिसको ऋजु-योग अथवा सरल-योग के नाम से उल्लेख किया जाता है—

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्—
दृष्टाश्रतान्मद्रच नानु चिन्तया ।

चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो ।
यतिष्यते ऋजुभियोगमार्गैः ॥

(३।२५।२)

अर्थात्—"भगवान् की कथा श्रवण से मनुष्य के हृदय में भक्ति-भाव की उत्पत्ति होती है। भक्ति हो जाने पर देखे और सुने हुये इन्द्रिय-जन्य सुखों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। ऐसा योग-युक्त पुरुष आत्म साधन के उद्योग में तत्पर होकर ऋजु-योग द्वारा प्रभु प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है।"

इस साधन-विधि के चार अङ्ग बतलाये गये हैं जिनका साधन साधारण मनुष्य भी कर सकते हैं। वे हैं—सत्संग, भगवान की कथा सुनते रहना, कीर्तन और जप। इनके द्वारा मनुष्य के हृदय में श्रद्धा का संचार होता है और चित्तवृत्ति का झुकाव भगवान की तरफ होता है। इसके अभ्यास से सांसारिकता की भावना में क्रमशः कमी होने लगती है और मनुष्य स्वार्थ की तरह परमार्थ का भी महत्व अनुभव करने लगता है। कीर्तन और जप भी ऐसे उपाय हैं कि जिनको यदि आरम्भ में केवल नियम पालन की निगाह से किया जाय तो भी वे मनुष्य के हृदय में ईश्वर-भक्ति को उदय कर देते हैं। इस प्रकार इन चारों साधनों से अथवा इनमें से जो कुछ बन पड़े उसी को सीधे-सच्चे मन से करने से भी मनुष्य की जीवनधारा में परिवर्तन होता है और वह पाप वृत्तियों की तरफ से उपराम होकर पुण्य की भावनाओं में प्रवृत्त होने लगता है। अनेक बार देखने में आता है कि कई अनपढ़ ग्रामीण जिन्होंने कभी शास्त्र-चर्चा में भाग नहीं लिया, न किसी बड़े साधन का ज्ञान प्राप्त किया, इन्हीं सत्संग, कथा-कीर्तन आदि साधारण विधियों द्वारा पापों से बचकर शांति और संतोष का जीवन व्यतीत कर लेते हैं और अन्त समय में उनकी गति ऐसी बिना किसी कष्ट और संताप के हो जाती है जैसी अनेक 'योगी' नामधारियों की भी नहीं होती।

मन्त्रयोग—

इसके सोलह अंग बताये गये हैं—१. भक्ति (वैधी, नवधा या रागात्मिक भक्ति), २. शुद्धि (शरीर-शुद्धि, स्थान-शुद्धि, दिक-शुद्धि, अन्तः-शुद्धि), ३. आसन, ४. पंचांग सेवन (गीता, सहस्रनाम स्तव, कवच, हृदय का प्रतिपादित पाठ), ५. आचार(दिव्याचार, दक्षिणाचार, वामाचार) ६. धारणा, ७. दिव्य देश सेवन(दैवीशक्ति आविर्भाव और इष्ट देव दर्शन), ८. प्राणक्रिया, ९. मुद्रा (विभिन्न इष्ट देवों के लिये विभिन्न संकेत), १०. तर्पण, ११. हवन, १२. बलि (आत्मबलि, काम क्रोधादि की बलि, उत्तम फलों की बलि, १३. योग (अन्तर्याग और बहिर्याग) १४. जप, १५. ध्यान, १६ समाधि । इन सोलह साधनों से जब मन देवता में लय हो जाता है तो ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी का एकात्मा में लय होकर साधक अपने लक्ष्य पर पहुँच कर कृतकृत्य हो जाता है । इस प्रकार जो नाम और रूप मनुष्य को संसार से बांधे रखने का साधन होता है; वही मन्त्र-योग द्वारा मुक्ति का साधन बन जाता है ।

विभिन्न साम्प्रदायिक योग प्रणालियां

सुरत शब्द-योग—राधा-स्वामी सम्प्रदाय में आत्म साक्षात्कार की एक विशेष विधि प्रचलित है जिसे सुरत-शब्द योग कहा जाता है । इस प्रक्रिया के विज्ञान को समझाते हुये एक स्थान पर बतलाला गया है कि 'प्रत्येक शक्ति के दो रूप होते हैं—गुप्त और प्रकट । जब कोई शक्ति गुप्त रूप में होती है तभी मनुष्य को उसका ज्ञान होता है । जब कोई शक्ति क्रियावती होती है तो उसका विकास धारा के रूप में हुआ करता है अर्थात् उसकी धारायें चारों तरफ फैलकर अपना-अपना एक मण्डल बांधती हैं ऐसी प्रत्येक धारा के संग शब्द की एक धारा भी प्रवाहित

हुआ करती है । उदाहरणार्थ सूर्य किरणों द्वारा जो सौर-शक्ति वायु-मण्डल में विकीर्ण होकर पृथ्वी तल पर आती है, उसमें भी एक ध्वनि होती है पर हमारी श्रवणेन्द्रिय की शक्ति सीमित होने के कारण हम उसे सुन सकने में असमर्थ रहते हैं । इसी प्रकार हमारे शरीर के भीतर विद्यमान आत्मशक्ति की धाराओं में भी अनेक ध्वनियां होती हैं जिन्हें स्थूल श्रवणेन्द्रिय नहीं सुन पाती । यदि साधना करके अपनी सूक्ष्म चेतन श्रवणेन्द्रिय को विकसित कर लिया जाय तो उनके द्वारा उन सूक्ष्म ध्वनियों को अवश्य सुना जा सकता है । जब किसी अभ्यासी को ये शब्द सुनाई देने लगते हैं तो उसके अन्तर में महान परिवर्तन हो जाता है ।"

प्रत्येक शब्द के साथ अपने उद्गम स्थान का एक विशेष प्रभाव रहा करता है । इसलिये जब मनुष्य आत्मशक्ति द्वारा उत्पन्न शब्दों को सुनने लगता है तो उसका प्रवेश आत्म-जगत में हो जाता है और सृष्टि के अनेकों गूढ़ रहस्य उस पर क्रमशः प्रकट होने लगते हैं । इनके प्रभाव से मनुष्य के शरीर स्थित चक्र, कमल पद्म आदि भी जो अनेक गुप्त शक्तियों के केन्द्र माने जाते हैं, जागृत हो जाते हैं । इन शक्ति केन्द्रों का जब भली प्रकार विकास हो जाता है तब अभ्यासी को प्रकृति की सीमा से बाहर के शुद्ध चैतन्य का अनुभव होने लगता है और अन्त में वह ब्रह्म स्वरूप में अवस्थित हो जाता है

तारक-योग—जिस प्रकार अन्य सम्प्रदायों की पृथक-पृथक योग-विधियाँ हैं उसी प्रकार "प्रणामी" या "परनामी" सम्प्रदाय के आदि संस्थापक स्वामी प्राणनाथ जी ने भी "तारक-योग" का प्रचार किया था और उसके द्वारा अपने लाखों अनुयायिओं को आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर कराया था । इस योग का वर्णन करते हुये एक स्थान में कहा गया है—

"तारक योग में अन्य योगों की भांति विशेष क्रिया कलापों की

आवश्यकता नहीं है। हाँ, अधिकारी पात्र योग्य होना चाहिये। बस, जिस प्रकार एक प्रज्ज्वलित दीपक से अन्य दीपकों का संयोग होते ही सभी दीपक तत्काल प्रकाशयुक्त होते चले जाते हैं और प्रथम दीप को किसी प्रकार का कष्ट या न्यूनता नहीं होती, उसी प्रकार तारक-योग द्वारा प्रत्येक योग्य अधिकारी को बिना क्रम समान शक्ति प्राप्त होते देर नहीं लगती और वह ब्रह्म साक्षात्कार के योग्य बन जाता है।"

पातंजल योग-दर्शन में भी एक स्थान पर 'तारक' शब्द आया है जिसमें उसकी विशेषता बतलाई गई है—

"तारक सर्व विषय सर्वथा विषयम् क्रम चेति विवेक-जंज्ञानम्। (विभूतिपाद ५४)

अर्थात्—"अपनी प्रभा से उत्पन्न होने वाला सब को विषय करने वाला, बिना क्रम के साथ प्राप्त ज्ञान, विवेक ज्ञान कहा जाता है।"

इसका आशय यही हो सकता है कि साधक को गुरु-कृपा या परमात्मा के अनुग्रह से अपने आप तत्काल ही ऐसा ज्ञान प्राप्त हो सकता है जिससे वह समस्त विश्व-प्रपंच को स्पष्ट देख और समझ सके। ऐसा होने पर वह क्रमानुसार योग के सब अंगों का अभ्यास किये बिना भी ब्रह्म साक्षात्कार कर सकता है।

'अद्वय-तारक' उपनिषद में एक अन्य तारक-योग की विधि भी दी गई है जिसमें साधक अपनी भृकुटियों के मध्य स्थित तेज का ध्यान करके ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। परमाकाश, महाकाश, तत्वाकाश और सूर्याकाश का वर्णन करते हुये उपनिषद्कार कहते हैं—

"हम आँख के तारक(पुतलियों) से सूर्य और चन्द्रमा को देखते हैं। जिस प्रकार हम नेत्र के तारकों से बाह्य ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित सूर्य और चन्द्र का दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अपने सिर रूप ब्रह्माण्ड के

मध्य में स्थिति सूर्य और चन्द्र का निश्चय करके उनका दर्शन करना चाहिये और दोनों को एक ही समझकर मन से उनका ध्यान करना चाहिये क्योंकि मन को इस भाव से प्रयुक्त न किया जायगा तो इन्द्रियां विषयों में प्रवृत्त होने लगेंगी। इसलिये साधक को अन्तर दृष्टि से तारक का ही अनुसंधान करना चाहिये। तारक दो प्रकार का होता है मूर्त और अमूर्त। जो इन्द्रियों के अन्त में है वह मूर्त तारक है, जो दोनों भृकुटियों के बाहर है वह अमूर्त है। अतः पदार्थों के विवेचन में सर्वत्र मन द्वारा अभ्यास करना चाहिये। सत्व-दर्शन युक्त मन से अन्तर में निरीक्षण करने से दोनों तारकों के अर्द्ध भागों में सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु का दर्शन होता है। इससे विदित होता है कि ब्रह्म-शुक्ल तेजोमय है। उस ब्रह्म को मन सहित चक्षुओं को अन्तःदृष्टि से देखकर जानना चाहिये। अमूर्ततारक भी इसी विधि से मन संयुक्त नेत्रों से विदित होता है। रूप दर्शन के विषय में मन चक्षुओं के आधीन रहता है और बाहर के समान भीतर भी रूप ग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही होता है। इसलिये मन सहित चक्षुओं से ही तारक का प्रकाश जाना जाता है।"

बौद्ध धर्म में योग—यह एक प्रसिद्ध बात है कि भगवान बुद्ध ने आरम्भ में पांच वर्ष तक वन में रहकर घोर तपस्या और योग साधन की थी। बाद में यद्यपि उनको इससे सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने आत्मसाक्षात्कार के लिये, जिसे वे 'वोधि चित्त' के नाम से पुकारते हैं, मध्यम-मार्ग को ही अधिक उपयुक्त बतलाया; फिर भी बौद्ध धर्म में भारत के प्राचीन संस्कारों के प्रभाव से योग का महत्व और प्रभाव पर्याप्त मात्रा में बना रहा और बुद्ध के कुछ सौ वर्ष बाद तो मन्त्र और तन्त्र का संयोग करके बौद्ध-योग की एक ऐसी प्रणाली का आविर्भाव किया गया जिसने एक बार समस्त भारतवर्ष को ही आच्छादित नहीं कर दिया वरन् समस्त पूर्वी एशिया—तिब्बत, चीन, जापान, बर्मा, स्याम, लंका तक को बहुत बड़ी मात्रा में प्रभावित किया, अन्य देशों में इसका स्वरूप धीरे-धीरे

बहुत बदल गया या एक प्रकार से समाप्त ही हो गया, पर तिब्बत इसका ऐसा केन्द्र-स्थान बन गया कि वहाँ के योगियों की गाथायें अभी तक संसार को आश्चर्यचकित करती रहीं और बड़े-बड़े विदेशियों ने भी उसकी खोज करके उसकी सच्चाई और शक्ति को स्वीकार किया।

बौद्ध-योग में भी (१) प्रत्याहार (२) ध्यान (३) प्राणायाम (४) धारणा (५) अनुस्मृति (६) समाधि—इन छः अंगों का वर्णन किया गया है। प्रत्याहार का आशय है, इन्द्रियों का संयम और निग्रह। इसे हम पातंजलि योग के यम-नियम के स्थान पर पर समझ सकते हैं। मन को स्थिर और एकाग्र करने के अभ्यास का नाम ध्यान है। इसको पांच ध्यानी बुद्धों की पांच विशेषताओं को इष्ट बनाकर किया जाता है। यह पांचों इन्द्रियों के विषय या तन्मात्राओं का साधन कहा जा सकता है। प्राणायाम का विधान बौद्ध-योग में भी हिन्दू-योग के समान प्राणवायु का निरोध करना है। पर पूरक, कुम्भक, रेचक के बजाय उसमें प्राण को पंचविधि मानकर नासिका के अग्रभाग पर उसकी एक पिण्ड के रूप में भावना की जाती है और पांच प्रकार की ज्योति प्रसारित करने वाले एक-एक रत्न के रूप में उसका ध्यान किया जाता है। धारणा का अभ्यास करने से अपने भीतर स्वच्छ आकाश में स्थिर प्रकाश के समान आत्म-ज्योति का अनुभव होने लगता है। पांचवें अंग अनुस्मृति के अभ्यास से 'प्रज्ञा' अथवा विज्ञान का विकास होने लगता है और उसकी पूर्णता होने पर सृष्टि के समस्त पदार्थ एक रूप में दिखाई पड़ने लग जाते हैं। इस रूप का एक पिण्ड के रूप में ध्यान करते रहने से अन्त में समाधि रूप अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

जैसा कहा गया है बौद्ध-योग में तंत्र और मंत्र का समावेश बहुत अधिक परिणाम में हो गया है और उसका प्रारम्भिक रूप किसी देवता की साधना करके विशिष्ट चमत्कारी शक्तियां प्राप्त करना ही बन गया है। तिब्बत के बौद्ध लामा 'ॐ मणिपद्मेवुम्' का जप करते हुये एक चक्र

फिराया करते हैं। कुछ खोज करने वालों के मतानुसार मणिपद्म से हठयोग में वर्णित मणिपूरक-चक्र का अभिप्राय है, क्योंकि यही कुण्डलिनी के जागरण और उसके द्वारा चमत्कारी शक्तियों की प्राप्ति का मुख्य साधन है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में बतलाया गया है कि जब मन्त्र द्वारा इष्ट देव की प्राप्ति न हो तो हठ-योग का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि उसके द्वारा शरीर तथा आत्मा के मलावरण दूर होकर वह देवता को प्राप्त करने योग्य बन जाता है।

जैन धर्म में योग——जैन धर्म में वैदिक धर्म की बातों का समावेश पर्याप्त परिणाम में पाया जाता है। बौद्ध-धर्म तो वैदिक धर्म से संघर्ष करके कुछ सौ वर्ष बाद इस देश में प्रायः लोप हो गया, पर जैन धर्म उससे एक प्रकार का समझौता करके यहाँ बना रहा और अब भी एक उल्लेख योग्य स्थिति में मौजूद है। इसके परिणाम स्वरूप उस पर हिन्दू धर्म की मान्यताओं और विधि विधानों का काफी प्रभाव पड़ा और ऊपर से भिन्नता होने पर भी आन्तरिक रूप में दोनों की अनेक बातें मिलती-जुलती हैं।

जैन-योग में सबसे अधिक महत्व ध्यान को दिया गया है। उसमें वैसे अष्टांग-योग का भी वर्णन किया गया है, पर सब अंगों को अनिवार्य नहीं माना है। प्राणायाम के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का मत है कि उसे बलपूर्वक नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से शारीरिक पीड़ाओं और मन को कष्ट होकर ध्यान में बाधा पड़ने की सम्भावना रहती है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने लिखा है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थय प्राणायामैर्कर्दथितम्।
प्राणस्यायमने पीड़ा तस्यां स्यार्चिचत विप्लवः॥

आचार्य हरिभद्र सूरि ने मित्रा, तारा, वला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा आदि योग की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है जो पातंजल के योग के अष्टांग से मिलती हुई हैं। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के 'ज्ञानार्णव'

मामक ग्रन्थ से योग-साधन का विधान है, जो बहुत कुछ राजयोग की विधियों के अनुकूल ही जान पड़ता है।

जैन-योग में चार प्रकार के ध्यान का वर्णन किया गया है—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आर्त और रौद्र ध्यान मनुष्य का पतन करने वाले और उसे कर्म बन्धनों में बांधने वाले हैं और धर्म तथा शुक्ल आध्यात्मिकता को उत्पन्न करने वाले तथा बढ़ाने वाले हैं। शुक्ल ध्यान का स्वरूप बिल्कुल वही है जो हिन्दू शास्त्रों में सात्विक वृत्ति का कहा गया है। इसकी प्राप्ति आत्म-ज्ञान की ऊँची चोटी पर पहुंच कर ही होती है और इसके द्वारा दुःखरूप कर्म बन्धनों का अविलम्ब अन्त हो जाता है। मुक्ति के प्रधान साधन हैं सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र। जब तक सत्य को समझकर उसका वास्तविक स्वरूप हृदयंगम न करेंगे और साथ ही उसके अनुकूल आचरण भी न करेंगे तब तक आत्मा का ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं, यही जैन-दर्शन का सारांश है। इसीलिये वे 'कायाकष्ट' करने वाली विधियों को अधिक महत्व नहीं देते और ध्यान-योग द्वारा आत्मा को ऊँचा उठाकर 'कैवल्य' स्थिति को प्राप्त करना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ मानते हैं। इस प्रकार वे पातंजल-योग उच्च अंगों-धारणा, ध्यान, समाधि पर ही ज्यादा जोर देते हैं। जैन-धर्म में 'समाधि-मरण' का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है और 'समाधि-शतक' नामक एक ग्रन्थ भी मिलता है।

विदेशी धर्मों में योग मार्ग—यद्यपि अन्य धर्मों में भाषा और देश की भिन्नता के कारण 'योग' शब्द नहीं मिलता पर उसमें भी ऐसे साधन पाये जाते हैं जिनमें आत्म-साक्षात्कार कराने वाली योग प्रणाली की तुलना की जा सकती है। ऐसे धर्मों में सबसे प्राचीन पारसी या जरदोस्ती धर्म है जो किसी समय वैदिक धर्म की एक शाखा के रूप में ही पृथक होकर फारिस (ईरान) की तरफ चला गया था। इस धर्म का मूल ग्रन्थ महात्मा जरथुस्त्र की 'गाथा' है जिसका नाम 'अहुन वइति

गाथा' है। कहा जाता है इसके अनुसार सृष्टि उत्पन्न करने के निमित्त परमात्मा ने "अहुन-वइर्य" शब्द का उच्चारण किया। वही उपरोक्त गाथा का आधार है। जिस प्रकार ॐ तीन अक्षरों (अ, उ, म) से मिल कर बना है, उसी प्रकार "अहुनवर" का मन्त्र भी तीन भागों में विभाजित है जिनका आशय इस प्रकार है—

(१) जैसे राजा सर्वोपरि होता है उसी प्रकार ऋषि भी अपने 'अष' (ऋत) के कारण होते हैं।

(२) 'वोहु मनो' (शुद्ध मन) का पुरस्कार जीवन में प्रभु का कार्य करने वालों को मिलता है।

(३) ईश्वर का 'क्षथ्र' (कर्म) उसको मिलता है जो लाचारों, असहायों का रक्षक बनता है।

इस प्रकार पारसी जाति के धर्म में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों की साधना पर जोर दिया गया है, जो हिन्दू-धर्म के त्रिविध योग के सदृश्य ही है। ज्ञान की साधना के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा है कि "सर्वोत्तम 'अष' की सहायता से, सर्वश्रेष्ठ अष के द्वारा, हे ईश्वर! हम तुमको देखें, तेरे पास पहुंचे, तेरे साथ मिल जायें।" 'वोहु-मनो' का मार्ग अहंकार को त्याग कर सब जीवों के प्रति प्रेमभाव रखना बतलाया गया है। इसमें गौरक्षा पर विशेष जोर दिया गया है। 'क्षथ्र' की साधना का विधि गरीब, असहाय, निर्बलों की रक्षा, सहायता करना है। यही कर्म-मार्ग है जिसका पारसी जाति में बहुत महत्व समझा जाता है। इस प्रकार पारसी धर्म में ईश्वर प्राप्ति का मार्ग ज्ञान, भक्ति और कर्म को बतला कर मनुष्यों को आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रेरणा की है, जो कि योग सिद्धान्त के ही अन्तर्गत है।

+ + +

ईसाई धर्म में व्रत, उपवास और कष्ट सहन को आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बतलाया गया है और प्राचीन काल में ईसाई साधु बड़े

निश्चल भाव से इसका अनुसरण किया करते थे। बाइबिल में कहा गया है कि ईसा मसीह ने स्वयं धर्मोपदेश देने के पहले जंगल में एकान्तवास करके चालीस दिन का उपवास किया था। इससे उसे जिस ईश्वरीय ज्ञान का साक्षात्कार हुआ, उसी का प्रचार बाद में उसने अन्य लोगों में किया। कुछ लेखकों ने तो खोज करके यहां तक कहा है कि ईसा ने अपने आरम्भिक जीवन में भारत में आकर भारतीय दर्शनों तथा योग विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। अन्य लोगों का भी यह कहना है कि भारतवर्ष के जो बौद्ध साधु दूर देशों में धर्म प्रचार के लिये गये थे, उन्हीं के समागम से ईसा ने आत्म-विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। कुछ भी हो ईसा की जीवनी और उसके कार्यों से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि वह एक उच्च कोटि का योगी था और भारत के आध्यात्म सिद्धान्तों का उसे ज्ञान था।

ईसा ने एक स्थान पर कहा है कि "मैं तथा मेरा पिता एक ही हैं।" कुछ विद्वान इसका अर्थ यह लगाते हैं कि ईसा अद्वैत सिद्धान्त को मानता था और इसलिये उपर्युक्त कथन में उसने जीव और परमात्मा की एकता का प्रतिपादन किया है। अन्य लोगों की सम्मति में ईसा-मसीह द्वारा कही गई 'एकता' का अर्थ परमात्मा के प्रति ऐसा शरणागत योग है जिससे हमारा चित्त उसकी दिव्य ज्योति से जगमगा उठे।

ईसाइयों में एक ग्रन्थ 'रहस्य वादी' (मिस्टक) नाम का पाया जाता है जो लय योग के अनुसार परमात्मा में लीन हो जाने की साधना करते हैं।

योग-दर्शन की प्रधान शिक्षाएँ

यहां तक से विवेचन से हमको यह तो विदित हो गया कि योग-दर्शन के सिद्धान्त बहुत प्राचीन हैं। उसकी व्यावहारिक विशेषता के कारण उसका प्रचार संसार के दूरवर्ती भागों में भी पाया जाता है और उसका प्रभाव सर्वथा भिन्न समझे जाने वाले मजहबों पर भी पड़ा है। पर इन्हीं क्रियाओं और तरह-तरह की शक्तियों की वृद्धि करने वाले

साधनों के कारण कुछ लोग उस पर यह आक्षेप करते हैं कि पातंजलि का योगशास्त्र एक 'दर्शन' होने के बजाय अध्यात्म और तन्त्र की एक शाखा के रूप में अधिक जान पड़ता है। विशेष रूप से योग की असम्भव सी जान पड़ने वाली 'विभूतियों' का वर्णन पढ़कर विदेशी विद्वान इसे आदिमकालीन जातियों के जादू-टोना वाली धर्म-क्रियाओं की तरह समझने लगते हैं। मैक्समूलर जैसे भारतीय-धर्म के प्रशंसक और वैदिक साहित्य के अद्वितीय विद्वान ने भी योग के महान आध्यात्मिक सिद्धान्तों के साथ विभूतियों का वर्णन देखकर लिखा है कि "दार्शनिक दृष्टिकोण से भी यह बात विचारणीय है कि ऐसे अस्पष्ट और विश्वास के अयोग्य बयान पूर्ण यथार्थ तर्क और सावधान परीक्षण के साथ साथ मिलते हैं।"

पर जैसा हम पीछे लिख चुके है विभूतियां योग-दर्शन का मूल-तत्व नहीं हैं और साधकों के उत्साह की वृद्धि के लिये उनका वर्णन करने के बाद भी यह कहा गया है कि "वे लौकिक दृष्टि से सहायक हैं पर मोक्ष की दृष्टि से बाधा स्वरूप हैं।" योग दर्शन का मुख्य अंग विभूतियां नहीं हैं वरन् अष्टांग-साधन प्रणाली है, जिससे मनुष्य की आत्मा का क्रमिक विकास होकर वह परमात्मा के दर्जे तक पहुँच जाती है।

योग-दर्शन के मूल सिद्धान्तों में 'वस्तुवाद' का सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है और वह वेदान्त के 'मायावाद' का निराकरण करता है। वह वस्तुओं के अस्तित्व को यथार्थ मानता है, पर यह स्वीकर करता है कि चित्तों में अन्तर हो जाने से एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई पड़ती है।

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में भी योग ने अपना मत स्पष्ट रूप से प्रकट किया है जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक बोधगम्य है। उसका कहना है कि विकास के अनुसार जिन वस्तुओं में परिमाण होता है, उनमें कोई छोटी सी छोटी और बड़ी से बड़ी होती है। जैसे भौतिक पदार्थों में परमाणु, छोटे से छोटा और आकाश बड़े से बड़ा होता है, उसी

प्रकारज्ञान और शक्ति में भी श्रेणी-भेद होता है जिसे हम अपने सांसारिक जीवन में चारों तरफ देखते हैं। विभिन्न पुरुषों में ज्ञान का परिणाम बढ़ते-बढ़ते अन्त में एक ऐसा 'पुरुष' होगा जिसमें ज्ञान और शक्ति की चरम सीमा होगी अर्थात् जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होगा। वह 'विशेष-पुरुष' होगा जिसकी तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती और वही ईश्वर है। इस ईश्वर में ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति, इच्छा शक्ति आदि गुण पूर्ण मात्रा में होते हैं और उसी से वे जीव को प्राप्त होते हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि जीव भी ईश्वर का ही अंश है। इसलिये उसमें भी ये गुण उत्तराधिकार के रूप में अंश रूप में पाये जाते हैं। जीव योग-साधन द्वारा इनका विकास करके मुक्त अवस्था तक पहुँच सकता है जो कि ज्ञान और शक्ति की दृष्टि से ईश्वर के तुल्य ही है। फिर भी योग-दर्शन में बद्ध और मुक्त 'पुरुष' के अतिरिक्त ईश्वर को 'विशेष पुरुष' माना है जिससे उसकी सर्वोपरि महानता और अधिष्ठाता होना सिद्ध होता है।

हम यह भी नहीं कह सकते कि अन्य शास्त्रों में जिस गुणातीत ब्रह्म-स्वरूप का वर्णन किया है, उसे योग-दर्शन अस्वीकार करता है। पर जब वह अनिर्वचनीय है और कल्पना से भी बाहर है, तब उसके विषय में विवेचना करने से क्या लाभ ? अन्य शास्त्रों ने उसकी अनुमान द्वारा कुछ चर्चा करके अन्त में 'नेति-नेति' कह दिया है, जिसका आशय यही है कि यद्यपि हम निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करने की चेष्टा करते हैं पर वास्तव में मनुष्य को उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। महर्षि पतंजलि ने व्यावहारिक दृष्टिकोण से वहीं तक का विचार किया है जहां तक का अनुभव मनुष्य की बुद्धि कर सकती है और जिसे प्राप्त करने का प्रयत्न योग-साधन द्वारा किया जा सकता है।

श्रीराम शर्मा आचार्य

D.T.O after page 64

97 to 112

अथवा यह संसार क्षणभंगुर है और स्वप्न के समान है ऐसी दृढ़ भावना करते रहने से वैराग्य होता है और मन सांसारिक तृष्णाओं की व्यर्थता समझकर स्थिर होता है। अथवा गाढ़ निद्रा में सुख-दुःख से रहित होकर जब केवल चित्त की वृत्तियों के अभाव का ज्ञान रहता है, किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति नहीं रहती, उस ज्ञान को अंतःकरण में लाने से चित्त स्थिर होता है। अथवा जैसे स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत विषय का ज्ञान तथा इन्द्रियों की चंचलता नष्ट हो जाती है वैसे ही ज्ञान के आश्रय से बहिर्मुखी वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं, तब चित्त स्थिर होता है।

मनुष्यों की रुचि अनेक प्रकार की होती है, जिस वस्तु में जिस की अधिक रुचि हो, उसी का वह ध्यान करे, यही कहते हैं।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

सूत्रार्थ—अथवा जिसको जो अभिमत हो, उसके ध्यान से मन स्थिर होता है।

व्याख्या—पहले बताये हुये साधनों में से कोई साधन यदि साधक के अनुकूल नहीं पड़ता हो तो अपनी इच्छा अनुसार चुने हुये या अपने इष्ट देव के स्वरूप का ध्यान करने से मन स्थिर होता है। सारांश यह है कि चित्त-स्थिर करने के लिये मन को किसी ऐसी स्थूल मूर्ति में लगाना चाहिये जो साधक को अति प्रिय हो। चाहे वह मूर्ति पिता, माता, गुरु, भाई आदि की हो। स्थूल मूर्ति में चित्त स्थिर हो जाता है और पुनः पुनः अभ्यास से सदैव स्थिर रहता है।

चित्त के स्थिर होने पर उसका क्या स्वरूप, क्या विषय होता है ? यह अगले सूत्र में कहते हैं।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

सूत्रार्थ—उस समय इसका परमाणु से लेकर परम महत्त्व तक वशीकरण हो जाता है।

व्याख्या—पहिले बताते हुये उपायों से मन की स्थिरता और एकाग्रता हो जाने पर वह इतना नियंत्रित हो जाता है कि साधक जहाँ चाहे वहाँ छोटे से छोटे परमाणु से लेकर आकाश तक किसी भी पदार्थ या तत्व में लगाना चाहे तो बिना चंचलता प्रकट किये उसी में लग जाता है। एकाग्रता के द्वारा मन का वशीकार होना महान सफलता है। वशीकार से योगी का चित्त परिपूर्ण होकर स्थिर होता हुआ फिर अभ्यास कर्म की अपेक्षा नहीं करता।

साधक को चाहिये कि प्रथम किसी अनुभवी, निःस्वार्थ पथ-प्रदर्शक से यह क्रियात्मक विधि सीखे और अभ्यास करने के लिये एकान्त स्थान में शुद्ध हो प्रातःकाल कम से कम दो-तीन घन्टे और शाम को दो घन्टे ध्यान करना चाहिये। पद्मासन "दोनों जंघाओं को दोनों पैरों से दबाकर" अथवा सिद्ध, वज्र, स्वास्तिक, आसन से सिर गर्दन, पीठ को सीधा करके खेचरी मुद्रा से बैठे। अभक्ष्य पदार्थों का सेवन, मादक, शराब, भंग, सुलफा, सिगरेट आदि का सेवन न करे। लाल मिर्च खटाई, तेल, गरिष्ठ, बादी, कफ वर्धक तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन न करे। ऐसा भी पदार्थ न सेवन करना चाहिये जिससे आलस्य रोग पैदा हो। मैथुन, कुसंग, क्रोध, शोक, भय उत्पन्न करने वाली बातें तथा परिश्रम न करना चाहिये। शरीर शुद्ध, आंतों में मल न रहे, इसके लिये धोती-नेती करना चाहिये। शारीरिक ब्रह्मचर्य के समान मानसिक आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य आवश्यक है। अपने अनुभवों को दूसरे से न कहना चाहिये। इस प्रकार वातावरण अच्छा होने से कार्य में सफलता शीघ्र होती है।

पूर्वोक्त उपायों से जब साधक का अपने चित्त पर अधिकार हो जाता है और चित्त निर्मल होकर समाधि की क्षमता आ जाती है तो उसके बाद किस प्रकार संप्रज्ञात और निर्जीव समाधि प्राप्त होती है, उसको कहते हैं।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥४१॥

सूत्रार्थ—**वृत्तियों के क्षीण हो जाने से स्फटिक मणि के समान जब मन हो जाता है और वह ग्रहीता (आत्मा), ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य (पंचभूत व उनके विषय) में स्थित होकर तदाकार हो जाता है तो यही समापत्ति (सम्प्रज्ञात समाधि) है।**

व्याख्या—पहिले कहे हुये उपायों से मन की रजोगुणी, तमोगुणी वृत्तियां जब क्षीण हो जाती हैं तब साधक में केवल सतोगुण ही रह जाता है। चित्त निर्मल होकर स्फटिक मणि अथवा दर्पण के समान स्वच्छ हो जाता है, उसमें जिस रंग का पदार्थ उसके सामने रखा हो, उसी रंग का दर्पण में दीखता है। जब एकाग्र शुद्ध चित्त सतोगुणी वृत्तियों के सम्पर्क में आता है तब वह भी सत्त्व से ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होता है। आत्मा, मन, इन्द्रियां और बाह्य विषय सत्त्व प्रधान होते हैं। इस तदाकार तन्मयता में जो स्थिति प्राप्त होती है, उसे समापत्ति समाधि अथवा सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं

समापत्ति के चार भेद कहते हैं।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२॥

सूत्रार्थ—**उन समापत्तियों में शब्द, अर्थ, और ज्ञान इन तीनों के भेदों से मिली हुई सवितर्क समापत्ति है।**

व्याख्या—शब्द, अर्थ और ज्ञान, जैसे गौ शब्द, और गौ शब्द का अर्थ तथा गौ शब्द का ज्ञान यह तीनों कहीं एक रूप से रहते हैं और कहीं अलग-अलग भी प्रतीत होते हैं। यद्यपि तीनों अलग-अलग हैं परन्तु

निरन्तर अभ्यास के कारण तथा एक से दूसरे का सम्बन्ध होने से एक का ज्ञान होने पर अन्य का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार एकता का अभाव होने तक अर्थात् जब तक शब्द, अर्थ, ज्ञान तीनों भिन्न-भिन्न प्रतीत हों, उस समाधि को सवितर्क समापत्ति कहते हैं, इसी को सविकल्प समापत्ति कहते हैं।

आगे निर्वितर्क समाधि का लक्षण कहते हैं।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का: ॥४३॥

सूत्रार्थ—स्मृतियों के शुद्ध हो जाने पर अपने आप में ही खोई हुई केवल आराध्य के रूप में अवस्थित स्थिति निर्वितर्क समाधि होती है।

व्याख्या—भूतकाल के मृदु, कटु अनुभवों के आधार पर उत्पन्न होने वाले सुख-दु:खों, राग-द्वेषों का जब समाधान हो जाता है, वह स्थिति स्मृति-शुद्ध कहलाती है। इस अवस्था को प्राप्त करके अन्तर्मुखी होकर अपनी आत्मा में ही सीमित रहता हुआ परमात्मा में रमण करता है, वह निर्वितर्क समाधि है। इसमें शब्द और प्रतीति का कोई विकल्प नहीं रहता। अत: इसे निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं।

इस प्रकार स्थूल ध्येय पदार्थों में होने वाली संप्रज्ञात समाधि के भेद बताकर अब सूक्ष्म ध्येय में सम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद बताते हैं।

एतयैव सविचारा निर्विचरा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

सूत्रार्थ—इस सवितर्क और निर्वितर्क समाधि के निरूपण से ही सूक्ष्म पदार्थ में की जाने वाली सविचार एवं निर्विचार समापत्ति कहलाती है।

व्याख्या—जिस प्रकार स्थूल ध्येय पदार्थ में की जाने वाली समाधि के दो भेद होते हैं, उसी तरह सूक्ष्म पदार्थों से चित्त को स्थिर किया जाता है। पहिले उसके नाम, रूप, ज्ञान में भिन्नता मालूम होती है, वह सविचार समाधि है और कुछ दिनों के अभ्यास के बाद जब चित्त को नाम का, ज्ञान का और अपने स्वरूप का विस्मरण होकर केवल ध्येय पदार्थ का ही अनुभव होता है, वह निर्विचार समाधि है।

सूक्ष्म पदार्थों में कौन-कौन पदार्थ होते हैं, सो कहते हैं।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

सूत्रार्थ—सूक्ष्म विषयता प्रकृति पर्यन्त है।

व्याख्या—जब समाधि का क्षेत्र स्थूल पदार्थों तक ही सीमित न रहकर पञ्चभूतों की तन्मात्रा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द तथा मूल प्रकृति पर्यन्त जा पहुंचता है तो उन्हें सूक्ष्म कहते हैं। पृथ्वी की तन्मात्रा गन्ध है, जल की रस, तेज की रूप, वायु की स्पर्श और आकाश की शब्द है।

पञ्च तन्मात्रा एवं मन सहित इन्द्रियों का सूक्ष्म विषय अहंकार; अहंकार का महत्तत्व, महत्तत्व का सूक्ष्म विषय प्रकृति है। उससे आगे कोई सूक्ष्म पदार्थ नहीं है, यही सुक्ष्मता की अवधि है। इसलिये प्रकृति पर्यन्त किसी भी सूक्ष्म पदार्थ को लक्ष्य बनाकर उसमें की हुई समाधि को सविचार और निर्विचार समाधि ही जानना चाहिये।

ये चारों समापत्तियाँ सबीज समाधि हैं, यह बताते हैं।

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

सूत्रार्थ—वे सब सबीज समाधि हैं।

व्याख्या—पिछले सूत्रों में जिन आधार सहित सवितक तथा निर्वितर्क और आधार रहित सविचार एवं निर्विचार समाधियों का वर्णन किया है, वे सभी सबीज समाधियां हैं। इनमें समस्त वृत्तियों

का पूर्णतः निरोध न होने से कैवल्य स्थिति तक पहुँचना नहीं हो पाता फिर भी साधक को बहुत ऊँची स्थिति तक ले जाने में समर्थ होती है। उनकी पृथक्-पृथक् स्थिति बताते हैं—

(१) सवितर्क समापत्ति स्थूल पदार्थों, शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्पों से मुक्त भासने वाली चित्त वृत्ति होती है।

(२) निर्वितर्क समाधि में शब्द, रूप, ज्ञान की भिन्नता नहीं रहती है।

(३) सविचार सूक्ष्म विषयों में देशकाल और निमित्त (धर्म) के विकल्प रहते हैं।

(४) निर्विचार सूक्ष्म विषयों में देश, काल, धर्म के विकल्पों से रहित हो जाती है।

निर्विचार की उच्चतर आनन्दानुगत और अस्मितानुगत हैं। इन चारों में कौन अधिक श्रेष्ठ है सो बताते हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

सूत्रार्थ—निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होने पर (योगी को) अध्यात्म प्रज्ञा की निर्मलता होती है।

व्याख्या—निर्विचार समाधि की ऊँची अवस्था में जब रज-तम रूप मल का क्षय हो जाता है, चित्त की मलीनता मिट जाती है, सतो-गुण का प्रादुर्भाव होने से निर्मलता प्राप्त होती है, तो साधक का अन्तः करण प्रसन्नता से भर जाता है। उसी को वैशारद्य कहते हैं। इसी से योगी को प्रकृति पर्यन्त सभी पदार्थों का एक ही काल में साक्षात्कार हो जाता है। इसी को अध्यात्म प्रसाद कहते हैं—प्रज्ञा प्रसाद कहते हैं। उस स्थिति में जैसे पहाड़ की चोटी पर खड़ा मनुष्य नीचे पृथिवी पर मनुष्यों को देखता है, उसी प्रकार योगी देखता है।

अध्यात्म-प्रसाद से योगी को जिस बुद्धि का लाभ होता है, वह अगले सूत्र में कहते हैं।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥४८॥

सूत्रार्थ—उस समय योगी की बुद्धि ऋतुम्भरा (सत्य धारण करने वाली) होती है।

व्याख्या—अध्यात्म प्रसाद के होने पर जो समाहित चित्त योगी की प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसको ऋतुम्भरा प्रज्ञा कहते हैं, अर्थात् सत्य को धारण करने वाली बुद्धि हो जाती है। इसमें भ्रान्ति, अविद्या, संशय, विपर्यय का नाम भी नहीं रहता। इस प्रज्ञा द्वारा सत्य ही देखा जाता है और सत्य ही प्रकट किया जाता है, सत्य ही ग्रहण किया जाता है, इस प्रज्ञा के होने से ही योग का लाभ होता है।

इस बुद्धि में और भी विशेषता है सो अगले सूत्र में बताते हैं।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

सूत्रार्थ—श्रुति और अनुमान से प्राप्त बुद्धि की अपेक्षा यह ऋतम्भरा प्रज्ञा विशेष रूप से अर्थ का साक्षात्कार कराती है।

व्याख्या—श्रुति (वेद) शास्त्र एवं आप्त पुरुषों के वचनों के आधार के प्राप्त होने वाला, ज्ञान, अनुमान, युक्ति, प्रमाण के आधार पर स्थापित ज्ञान इन दोनों प्रकार के ज्ञान से किसी पदार्थ या विषय की जानकारी सीमित होती है। परन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा सत्य पर आधारित होने से उसके द्वारा छिपे हुये रहस्यों का उद्घाटन हो जाता है। जो साधारण बुद्धि से नहीं जाना जा सकता वह भी साक्षात्कार हो जाता है। इसलिये यह श्रुति अनुमान वाली बुद्धि से उत्तम है। यह श्रुति अनुमान का बीज है अर्थात् श्रुति अनुमान इसके आश्रय हैं न कि यह

उनके। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा को विवेक ख्याति के समान जानना चाहिये।

इस ऋतम्भरा प्रज्ञा की और भी विशेषता बताते हैं।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धो ॥५०॥

सूत्रार्थ—उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार दूसरे संस्कारों को रोकने वाला है।

व्याख्या—ऋतम्भरा प्रज्ञा से आत्मा तथा संसार के प्रत्येक पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार तो होता ही है, साथ ही वह अन्य प्रकार के उन संस्कारों को जो अनेक जन्म जन्मान्तरों के संस्कार वीज रूप से कर्माशय में पड़े रहते हैं और जो मनुष्य को संस्कार चक्र में भटकाने वाले मुख्य कारण होते हैं (२।१२) मिटा सकने में समर्थ होती हैं। इनके नाश से ही मुक्ति लाभ हो सकता है। उन संस्कारों को यह ऋतम्भरा प्रज्ञा ठहरने नहीं देती, उन्हें रोकती और बहिष्कृत करती है, क्योंकि मनुष्य को प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उसका प्रकृति में और उसके कार्यों में स्वभाव से ही वैराग्य हो जाता है। उस वैराग्य के संस्कार पूर्व सञ्चित संस्कारों का नाश कर देते हैं (२।२६) और (३।४६।५०) संस्कारों का निराकरण होने से साधक सब भाव-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

सबीज समाधि की सबसे ऊँची अवस्था का वर्णन करके अब निर्बीज समाधि को बताते हैं।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥५१॥

सूत्रार्थ--उसका भी निरोध हो जाने पर सबका निरोध हो जाने के कारण निर्बीज समाधि हो जाती है।

व्याख्या—अन्तिम अवस्था में उस ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले उच्च संस्कार का भी निरोध हो जाने पर एक

प्रकार से सब सुधि-बुधि का ही निरोध हो जाता हैं। तब इस संसार की प्रकृति का कोई भी बीज शेष न रहने से निर्बीज समाधि प्राप्त होती है। इस निर्बीज समाधि की अवस्था में चित्त में कोई भी वृति नहीं रहती; वृत्तियों को रोकने वाले संस्कार रहते हैं जिनको (१।१८) में संस्कारशेष के नाम से वर्णन किया है। इन संस्कारों के कारण चित्त में बाहर से वृत्तियों के रोकने का परिणाम होता रहता है। (३।९) चित्त में इस निरोध परिणाम के कारण पुरुष किसी बाह्य दृश्य का दृष्टा नहीं रहता किन्तु शुद्ध परमात्मा स्वरूप में अवस्थित रहता है और चित्त पुरुष को दृष्य दिखलाने के कार्य को बन्द करके अपने स्वरूप में अवस्थित होता हैं। संस्कार-शेष फिर भी नष्ट हो जाते हैं। संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से इस अवस्था का नाम निर्बीज समाधि हैं, इसी को कैवल्य कहते हैं।

॥ इति पातञ्जलं योग-दर्शन समाधिपाद समाप्त ॥

साधनपाद-२

[प्रथम पाद में स्वाभाविक शुद्ध चित्त वाले साधकों के लिये योग का स्वरूप; उसके भेद तथा उसका फल संप्रज्ञात, असम्प्रज्ञात समाधि वर्णन की और योग के मुख्य उपाय अभ्यास, वैराग्य तथा ईश्वर प्रणिधान आदि साधनों का भी वर्णन किया, किन्तु उनसे स्वाभाविक शुद्ध अन्तःकरण वाले योगी ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अतः साधारण साधकों के लिए द्वितीय "साधनपाद" को आरम्भ करते हैं। इसमें प्रथम क्रिया योग को बतलाया है।]

चित्त की शुद्धि का सरल उपाय क्रिया योग कहा जाता है।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

सूत्रार्थ—तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग है।

व्याख्या—योग-मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये पहले शरीर, प्राण, इन्द्रियां, मन को तप आदि क्रियाओं से इस योग्य बनाना चाहिये जिससे सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, सुख, दुःख, हर्ष, शोक, आदि द्वन्दों की अवस्था में बिना विक्षेप के योग-मार्ग में प्रवृत रह सकें। योग-मार्ग में तामसी तप जिससे शरीरादि में पीड़ा, इन्द्रियों में विकार, चित्त में दुःख हो, वह नहीं करना चाहिये। श्री पतञ्जलि महाराज ने सब से पहिले तप रूप साधन का ही उपदेश किया है।

(१) तप—जिस प्रकार धातु अग्नि में तपाने से शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार शारीरिक, मानसिक, वाचिक तप से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। शारीरिक तप वह है जैसे शीत, उष्ण से खिन्न न होना, समयानुकूल प्राणी मात्र की सेवा, परोपकार करना, शरीर पोषण को जो

आहार प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट रहना, व्रत उपवासादि करना। मानसिक तप—हिंसात्मक क्लिष्ट भावनाओं को त्यागकर शुद्ध विचारों को मन में धारण करना। वाचिक तप वह है कि सत्य, प्रिय भाषण, औरों का सम्मान, वाणी से कटु शब्द न निकालना या वृथा न बोलना, मौन-व्रत धारण करना आदि।

(२) स्वाध्याय—वेद शास्त्र, उपनिषद् एवं अध्यात्म सम्बन्धी विवेक ज्ञान उत्पन्न करने वाले शास्त्रों का पठन-पाठन, मनन करना। शास्त्रों में लिखित निन्दित कर्मों का त्याग करना, शुभ कर्म करना, ॐकार अथवा गायत्री का जप करना।

(३ ईश्वर प्रणिधान—मन, वाणी, कर्म से ईश्वर की भक्ति नाम रूप गुण लीला प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन, मनन करके सब वृत्तियों को ईश्वर में अर्पण कर देना। देह, इन्द्रियाँ, मन, अन्तःकरण, प्राण को एवं उनसे होने वाले कर्मों तथा उनके परिणामों को बाह्य और आभ्यान्तर जीवन को ईश्वर के समर्पण कर देना। ईश्वर के विशेष अर्थ ॐ का अर्थों की भावना सहित मानसिक जप करना ये सभी ईश्वर प्राणिधान (उपासना) के अङ्ग हैं।

यद्यपि उपरोक्त तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, योग के आठ अङ्गों में आजाते हैं जिनका वर्णन आगे करेंगे परन्तु इनका विशेष महत्व होने से क्रिया योग के नाम से अलग वर्णन किया है।

क्रिया योग के फल को अगले सूत्र में कहते हैं।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

सूत्रार्थ—क्रिया योग समाधि की भावना करने वाला और अविद्या आदि क्लेशों को क्षीण करने वाला है।

व्याख्या—क्रिया योग से चित्त शुद्ध होकर समाधि प्राप्त करने योग्य होता है, क्योंकि चित्त भूमि में अनादि काल से पड़े हुए अविद्या

आदि क्लेशों के संस्कार बीज रूप में स्थित रहते हैं। उनको शिथिल करने के लिये यह साधन है।

तप करने से मन, इन्द्रियाँ, प्राण की मलिनता दूर होकर ये निर्मल होते हैं। स्वाध्याय से अन्त:करण चित्त विक्षेपों के आवरण से शुद्ध होकर समाधिस्थ होने योग्य होता है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि की प्राप्ति होती है। क्लेशों के शिथिल होने पर अभ्यास वैराग्य द्वारा क्रम से सम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है। ऊँची अवस्था में विवेक ख्याति प्राप्त होने पर शिथिल किये हुये क्लेशों के संस्कार रूप बीज भी दग्ध हो जाते हैं, चित्त का भोग अधिकार समाप्त हो जाता है और 'पर-वैराग्य' होता है। जब 'पर-वैराग्य' के संस्कारो की वृद्धि होती है तो चित्त की विवेक ख्याति स्थिति भी समाप्त होकर असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। अत: क्रिया योग प्रथम साधन के रूप में करना आवश्यक है।

क्रिया योग से कौन-कौन से क्लेश दूर होते हैं ? उन क्लेशों को अगले सूत्र में बताते हैं।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: क्लेशा: ॥३॥

सूत्रार्थ—(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष, (५) अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं।

व्याख्या—अविद्या आदि जो पाँच क्लेश हैं वही जीव मात्र को जगत के प्रपंचों में बन्धन रूप पीड़ा आदि को करते हैं तथा चित्त में रहने के कारण संस्कार रूप गुणों के परिणाम को सुदृढ़ करते हैं। अर्थात् कर्म-फल जाति आयु भोग रूप क्लेशों के ही कारण हैं। ये महा दु:खदाई हैं, इन क्लेशों को मिथ्या ज्ञान, विपर्य्यय ज्ञान, भ्रान्ति ज्ञान, अज्ञान भी कहते हैं। सांख्य परिभाषा में अविद्या को तम, अस्मिता को मोह, राग को महामोह, द्वेष को तामिस्र, अभिनिवेश को अन्ध तामिस्र कहते हैं।

ये पाँचों मिथ्या ज्ञान ही हैं, क्योंकि उन सबका कारण अविद्या ही है। अविद्या सब क्लेशों की मूल कारण है यही बताते हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

सूत्रार्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—इन चार प्रकार के अस्मिता क्लेशों का उद्गम स्थान अविद्या है ।

व्याख्या—(१) प्रसुप्त क्लेश वह हैं जो चित्त भूमि में विद्यमान रहते हुये भी अपना कार्य नहीं करते हैं । जैसे—मनुष्य के बालकपन में विषय भोग की वासनाऐं बीज रूप से स्थित होने पर भी दबी रहती हैं और युवा अवस्था में जाग्रत होकर अपना काम करती हैं । प्रलय काल में तथा सुषुप्ति अवस्था में चारों ही क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था रहती है ।

(२) तनु—जिनको क्रिया योग से शक्ति हीन कर दिया है परन्तु इनकी वासनाएँ बीज रूप से चित्त में मौजूद हैं । काम करने में असमर्थ होकर शान्त रहते हैं । इन क्लेशों को तनु अवस्था में लाने के लिये धारणा ध्यान, ममता का त्याग, यथार्थ ज्ञान आदि आवश्यक हैं ।

(३) विच्छिन्न—किसी क्लेश के उदार अथवा बलवान होने पर दूसरा क्लेश दब जाता है । जैसे—राग की उदार अवस्था के क्षण में द्वेष दब जाता है और द्वेष की उदार अवस्था के क्षण में राग दब जाता है, वह उसकी विच्छिन्न अवस्था है ।

(४) उदार—जब क्लेश अपने सहायक विषयों को पाकर अपना काम अच्छी तरह कर रहे हों वह उदार अवस्था है । जैसे—साधारण मनुष्यों की व्युत्थान अवस्था में होते हैं ।

पाँच क्लेशों में से अस्मितादि चार क्लेशों के ही प्रसुप्त आदि चार अवस्था भेद होते हैं । अविद्या के नहीं क्योंकि वह अन्य चारों की जननी है । अविद्या के नाश होने से सबका समूल नाश हो जाता है ।

अविद्या को सर्व क्लेशों की जननी बतलाकर अब उनका स्वरूप बताते हैं ।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-
ख्यातिरविद्या ॥५॥

सूत्रार्थ—अनित्य, नश्वर में नित्य, अपवित्र में पवित्र; दुःख में सुख तथा अनात्मा में आत्म बुद्धि या आत्म भाव की अनुभूति अविद्या है।

व्याख्या—अविद्या का दूसरा नाम विपर्य्यय ज्ञान है अर्थात् जिस में जो धर्म नहीं है उसको मान लेना।

अविद्या के चार भेद हैं—

(१) अनित्य में नित्य का ज्ञान होना—इस लोक परलोक की सम्पत्ति, वैभव, भोग, शरीर आदि नाशवान् (अनित्य) हैं, यह सभी मनुष्य जानते हैं परन्तु अविद्या से नित्य की कल्पना करते हैं।

(२) अपवित्र को पवित्र मानना—स्त्री के हाड़ मांस, मज्जा, मल, मूत्र आदि प्रत्यक्ष देखते हुये भी इनको पवित्र मानना। चोरी हिंसा आदि से कमाया हुआ अपवित्र धन पवित्र मानना। अधर्म, हिंसा, पाप, अन्याय से रंगा हुआ अन्तःकरण अपवित्र होने पर भी पवित्र मानना।

(३) दुःख में सुख का ज्ञान—संसार के सब विषय दुःखदायी जानते हुये भी भोगों को सुखदायक समझकर उनमें आसक्त रहना।

(४) अनात्मा में आत्मा का भाव होना- शरीर, इन्द्रिय, चित्त जड़ हैं और आत्मा से भिन्न हैं परन्तु मनुष्य अविद्या से इसी को अपना स्वरूप मानता है। आत्मा नित्य चेतन है यह जानते हुये भी अनात्मा में आत्म भाव मान लेता है।

इस अविद्या के संसर्ग से चित्त और आत्मा का विवेक उलटा हो जाता है, जिससे जड़ चित्त में आत्मा का भाव होने लगता है, इसी से अस्मिता क्लेश उत्पन्न होता है, उसका स्वरूप अगले सूत्र में कहते हैं।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥६॥

सूत्रार्थ—दृग्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनों का एक रूप की भांति अनुभूति होना अस्मिता है।

व्याख्या—पुरुष देखने वाला 'दृग् शक्ति' है अर्थात् दृष्टा है। बुद्धि या चित्त 'दर्शन शक्ति' दिखाने वाला है। पुरुष चैतन्य चित्त जड़ है, पुरुष क्रिया रहित है, चित्त क्रिया वाला है। पुरुष सत, रज, तम तीनों गुणों से रहित है, चित्त तीनों गुणों से युक्त है। पुरुष स्वामी चित्त सेवक है। पुरुष अपरिणामी, चित्त परिणामी है। इस प्रकार ये दोनों भिन्न-भिन्न होने पर भी अविद्या के कारण दोनों में भेद ज्ञान नहीं होता, यही अस्मिता क्लेश है, इसी को हृदय ग्रन्थि कहते हैं। विवेक ख्याति होने पर अस्मिता क्लेश शिथिल हो जाते हैं और हृदय ग्रन्थि मिट जाती है इस अस्मिता क्लेश से मन, इन्द्रियां और शरीर में ममत्व (आत्म भाव) पैदा हो जाता है। उसके सुख साधन वस्तुओं में राग उत्पन्न हो जाता है।

राग का लक्षण अगले सूत्र में कहते हैं।

सुखानुशयी रागः ॥७॥

सूत्रार्थ—सुख भोग के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है, वह राग है।

व्याख्या—अस्मिता क्लेश से शरीर, इन्द्रियां, मन में आत्मा का आभास होने से जिन वस्तुओं और विषयों से सुख की प्रतीति होती है तथा सचेत जीव को उनके स्मरण एवं साधनों से उन वस्तुओं अथवा निमित्तों में आसक्ति या अनुरक्ति हो जाय एवं सुख साधनों के प्राप्त करने में इच्छा, तृष्णा या लोभ पैदा हो जाता है और उसके संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं, उसी का नाम राग है।

यह राग ही द्वेष का कारण है। चित्त में राग के संस्कार जम

जाने पर जिन वस्तुओं से सुख के साधन में विघ्न पड़ता है, उनसे द्वेष पैदा होता है ।

अगले सूत्र में द्वेष का लक्षण कहते हैं ।

दुःखानुशयी द्वेष ॥८॥

सूत्रार्थ—दुःख के अनुभव के पश्चात् 'घृणात्मक भावना' द्वेष है ।

व्याख्या—किसी प्रतिकूल पदार्थ में मनुष्य को जब कभी दुःख की प्रतीति होने पर उसके निमित्तों या साधनों से घृणा हो जाती है एवं क्रोध हो जाता है, उसके संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं, वह द्वेष कहलाता है । यह द्वेषात्मक क्लेश दुःखानुभूति के पश्चात् होता है । अतः इसे दुःख के पीछे न रहने वाला मानते हैं ।

अगले सूत्र में अभिनिवेश क्लेश का वर्णन करते हैं ।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढ़ोऽभिनिवेशः ॥९॥

सूत्रार्थ—जो परम्परागत स्वभाव से चला आ रहा है, जो मूढ़ों की भांति विद्वानों में जो भी देखा जाता है, वह 'मरण भय रूप' क्लेश अभिनिवेश है ।

व्याख्या—यह मरने का डर रूप क्लेश सभी जीवों में हमेशा से चला आ रहा है और सभी छोटे बड़े जीव यह चाहते हैं कि संसार में मैं कभी न मरुँ । यह सोचकर अपनी रक्षा के उपाय करते हैं । यह मरण भय मूर्ख के समान ही विद्वानों में भी होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि यह जीव पूर्वकाल में मृत्यु भय का अनुभव कर चुका है अन्यथा भय नहीं होता । इससे पूर्व जन्म होना भी प्रकट होता है । मृत्यु भय के संस्कार जो चित्त में पड़े हुये हैं इन्हीं को अभिनिवेश क्लेश कहते हैं । यही सकाम कर्मों के कारण हैं, जिनकी वासनायें चित्त भूमि में बैठकर अगले जन्मों को देने वाली होती हैं । अभिनिवेश का शब्दार्थ यह है कि

"ऐसा न हो कि मैं न रहूँ, किन्तु बना रहूँ, शरीर विषयादि से मेरा वियोग न हो।"

क्रियायोग से शिथिल किये हुए क्लेशों के नाश का उपाय अगले सूत्र में कहते हैं।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्मा ॥१०॥

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त पंच क्लेश, जो क्रियायोग से सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हो गये हैं, चित्त को अपने कारण में विलीन करने के साधन द्वारा नष्ट करने योग्य हैं।

व्याख्या—पहिले सूत्र में बताये हुये पंच क्लेश जो क्रियायोग से सूक्ष्म और प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) अग्नि से जले बीज के समान हो गये हैं, असम्प्रज्ञात समाधिस्थ चित्त के प्रकृति में लय होने से वे बीज रूप क्लेश भी लीन होकर नष्ट हो जाते हैं। प्रति प्रसव के अतिरिक्त उन क्लेशों के निरोध के लिए अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं है।

चित्त का अपने कारण में लीन होना प्रति प्रसव है। क्लेशों के पूर्ण क्षीण होने पर कैवल्य अवस्था एवं मुक्ति का विशेष सुख होता है।

इन क्लेशों के क्षीण करने का अन्य साधन बताते हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११॥

सूत्रार्थ—उन क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ ध्यान के द्वारा त्यागने योग्य हैं।

व्याख्या—सुख-दुःख, मोह वाली स्थूल वृत्तियां जो क्रियायोग से सूक्ष्म नहीं हो पाई हैं, उनको पहिले ध्यान द्वारा नाश करके सूक्ष्म बना लेना चाहिये, जैसे वस्त्र को धोने से उसका स्थूल मल सुगमता से साफ हो जाता है। किन्तु सूत के अन्तर्गत हुए मैल का नाश वस्त्र के नाश होने पर ही होता है या बहुत उपाय से दूर होता है, वैसे ही स्थूल वृत्तियां

जिनका अल्प प्रभाव है यानि कम दुःखदायी हैं और सूक्ष्म वृत्तियां जो वृहत् प्रभाव वाली महादुःखदायी होती हैं, इनका विचार ध्यान के द्वारा करके त्याग करें। धारणा अभ्यास से क्लेशों की स्थूल वृत्ति दग्धबीज के समान हो जाती है, तभी निर्वीज समाधि की सिद्धि आसानी से हो जाती है। निर्बीज समाधि से क्लेशों का अभाव अपने आप हो जायगा।

क्लेश ही जीवों के दुःख के कारण है, यह अगले सूत्र में कहते हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२॥

सूत्रार्थ—क्लेश ही जिसकी जड़ है, ऐसा कर्माशय दृष्ट (वर्तमान), अदृष्ट (भविष्य में होने वाले) जन्मों में भोगा जाता है।

व्याख्या—ऊपर कहे हुए पाँच क्लेश ही कर्म संस्कारों की जड़ हैं, इसी को कर्माशय (कर्म वासना) कहते हैं। उसका स्वरूप बताते हैं कि चित्त में क्लेशों के संस्कार रहते हैं, उनसे सकाम कर्म पैदा होते हैं। रजोगुण बिना क्रिया असम्भव है। रज-तम का सम्मिश्रण होने से ज्ञान धर्म वैराग्य ऐश्वर्य के कामों में एवं जब तमोगुण का मिश्रण अधिक होता है तो अज्ञान अधर्म आदि निंदित कर्मों में प्रवृत्ति होती है। जब तीनों गुणों का मिश्रण होता है तब दोनों प्रकार (धर्म, अधर्म) के कर्मों में प्रवृत्ति होती है। यही कर्म शुभ, अशुभ, पाप, पुण्य, मिश्रित होते हैं। इन्हीं के अनुकूल फल भोगने के संस्कार जो बीज रूप से हैं, वही कर्माशय (कर्म वासना) है। पुण्य कर्माशय देवताओं के समान भोग देते हैं, पाप कर्माशय पशु पक्षी कीट पतंगादि के समान एवं पाप पुण्य मिश्रित मनुष्यों के समान भोग देते हैं। कर्माशय को जन्म देने वाले शरीर और इन्द्रियाँ ही नहीं बल्कि मनोवृत्ति है। इसी की प्रेरणा से शरीर इन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं, इसी की वासनाओं से संस्कार पड़ते हैं। मनोवृत्तियाँ अगणित हैं और फल भोगने के संस्कार भी अगणित हैं। मनोवृत्ति रूप

कर्मों से वासनाऐं और वासनाओं से कर्म उत्पन्न होते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक उसका थोड़ा-सा भी बीज रहता है। कर्माशय दो प्रकार का है—(१) दृष्ट जन्म वेदनीय–जो वर्तमान जन्म में जाना जाय (२) अदृष्ट जन्म वेदनीय—जो दूसरे जन्म में जाना जाय। अर्थात् कर्माशय का भोग कुछ इसी जन्म में और कुछ कर्मों का भोग अगले जन्म में भोगा जाता है। कुछ कर्म ऐसे हैं जो तीव्र वेग भोग से, मन्त्र-तन्त्र और समाधियों से आचरित ईश्वर देवता महर्षि आदि की आराधना से सिद्ध होते हैं। वह शीघ्र फल देते हैं और जो कर्म तीव्र क्लेश से, हिंसा, दीनों को दुख पहुंचाने से होते हैं, वह भी शीघ्र फ़ल देते हैं। अत्युत्कट शुभा-शुभ कर्मों का फल इसी जन्म में मिलता है। जिन कर्मों से स्वर्ग नर्क की प्राप्ति होती है, उनका फल इस जन्म में नहीं मिलता। वे अदृष्ट जन्म वेदनीय हैं। यह कर्माशय जिस प्रकार इस जन्म में दु:खदायी है, उसी प्रकार अन्य जन्मों में भी क्लेशदायक है। अत, इसका नाश करने से कल्याण होता है।

कर्माशय का फल कब तक मिलता रहता है, यह अगले सूत्र में कहते हैं।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

सूत्रार्थ—मूल के रहने तक उस कर्माशय का परिणाम पुनर्जन्म, आयु और भोग होता रहता है।

व्याख्या—कर्माशय एक वृक्ष के समान है। उसकी जड़ें अविद्या जनित् क्लेश हैं, उस पर जाति, आयु और भोग तीन तरह के फल पैदा होते हैं। वह फल तब तक लगते रहेंगे जब तक उसकी जड़ को कुल्हाड़ी स काटकर फेंक नहीं दिया जाता। अत: प्रसख्यात (विवेक ख्याति) द्वारा जड़ कट जाने पर कर्माशय रूपी वृक्ष और उसके फल (जाति, आयु भोग) एवं सुख-दु:ख रूपी उनका स्वाद सभी नाश हो जाता है।

पहिले कह चुके हैं कि मन की वृत्तियाँ तथा उनसे उत्पन्न संस्कार अनन्त हैं। ये संस्कार अनेक जन्मों से चले आ रहे हैं। यही संस्कार जब प्रबल रूप में होते हैं तब प्रधान संज्ञा है और जब शिथिल रूप में होते हैं तव उपर्सजन संज्ञा है। मृत्यु के समय प्रधान संस्कारों के अनुकूल अगला जन्म, मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी आदि में होता है, जिनमें उन कर्माशयों का भोग भोगा जा सके। इसी को 'नियत विपाक' कहते हैं अर्थात् जो प्रधान कर्माशय से जन्म, आयु, भोग नियत हो गया है। उप-सर्जन कर्माशय जिनका फल अगले जन्मों में भोगा जावेगा, उनका फल नियत नहीं हुआ, उसको 'अनियत विपाक' कहते हैं।

अनियत विपाक कर्मों का फल तीन तरह से भोगा जाता है—(१) या तो नियत विपाक को अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं (२) या वे नियत विपाक के साथ होकर मौका पाने पर फल देते हैं (३) अथवा चित्त भूमि में सोते पड़े रहते हैं किसी जन्म में जागने पर फल देते हैं।

कर्म भी (१) संचित, (२) प्रारब्ध, (३) क्रियमाण—तीन प्रकार के होते हैं। (१) संचित कर्म वह है जो कर्म अनन्त जन्मों में किये गये हैं और अभी तक उनके भोग भोगने की बारी नहीं आई जो संस्कार रूप से कर्माशय में हैं। (२) प्रारब्ध—कर्माशय में भरे अनन्त कर्मों में से कुछ का फल शरीरादि के रूप मे मिल गया तथा शेष इस जन्म में फल मिल रहा है। (३) क्रियमाण—नवीन कर्म जो नये-नये संस्कार उत्पन्न कर रहे हैं।

सारांश यह है कि तब तक कर्माशय वृक्ष की क्लेश रूपी जड़ें विवेक ख्याति रूपी कुल्हाड़ी से काट नहीं दी जाती हैं, तब तक उस पर फल जाति, आयु, भोग रूपी लगते ही रहेंगे।

जाति आयु भोग में पाप और पुण्य के अनुसार सुख दुःखादि मिलता है, उसी को अगले सूत्र में कहते हैं।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थ—पुण्य और पाप कर्म कारण होने से ये (जाति, आयु, भोग) आनन्द तथा दुःख रूप फल देने वाले होते हैं।

व्याख्या—पहले कह चुके हैं कि कर्माशय रूपी वृक्ष से दो प्रकार के फल कड़ुये और मीठे पैदा होते हैं। जब मनुष्य स्वार्थ तज कर अन्य प्राणियों के कल्याण हेतु परोपकार की भावना से काम करता हैं तो उन कर्मों के अनुसार जाति, आयु, भोग पाकर सुख पाता है। यही फल मीठे हैं और जो मनुष्य दूसरे प्राणियों को स्वार्थ वश काम, क्रोध, लोभ, मोह से दुःख देने की मनोवृत्ति करता है, उन कर्मों के अनुकूल पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनि, आयु, भोग पाकर दुःख भोगता है, यही कड़ुये फल हैं। यही कारण होने से सभी योनियों में दुःख-सुख देखे जाते हैं। भौंरा फूल की सुगन्धि पाकर हर्षित होता है, विष्ठा का क्रीड़ा विष्ठा पाकर मग्न होता है। भौंरा फूल की सुगन्धि न मिलने से और विष्ठा का कीड़ा विष्ठा न मिलने से दुःखी होता है। कुछ मनुष्य राज-पाट, धन सम्पत्ति में आनन्द का अनुभव करते हैं, कुछ अन्धे लूले अपाहिज रोटियों से तंग मारे-मारे फिरते हैं। कुछ कुत्ते बिल्ली नाना प्रकार के पदार्थ, दूध मिठाई खाते हुए महलों में निवास करते हैं, कुछ गली-गली में भूखे फिरते हैं। तात्पर्य यह है कि जो सुख-दुःख दूसरों को दिया है, उसका फल अवश्य मिलता है चाहे किसी योनि में जन्म हो।

योगी को सुख-दुःख दोनों दुःख रूप ही हैं, यह अगले सूत्र में कहते हैं।

परिणामतापसंस्कारदुखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

सूत्रार्थ—परिणाम दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख यह तीनों (विषय सुख के भोग काल में) विद्यमान रहने के कारण

तथा गुण वृत्तियों में परस्पर निरोध होने से विचारवान् पुरुष को सबके सब कर्म-फल दुःख ही हैं एवं सुख भी जो कर्म-जन्य हैं वह भी दुःख-रूप ही हैं।

व्याख्या—इस सूत्र में (१) परिणाम दुःख (२) संस्कार दुःख (३) ताप दुःख (४) गुण वृत्ति विरोध दुःख—इस प्रकार चार बताये हैं।

(१) परिणाम दुःख—भोगेन्द्रियों की तृप्ति में शान्ति है, उसी को सुख मानते हैं। किन्तु विषय कामनाओं से इन्द्रियाँ कभी तृप्त नहीं होतीं जैसे अग्नि में लकड़ी डालने से ज्वाला बढ़ती है, उसी तरह विषयों के भोग से अधिक विषय भोगों की इच्छा होती है। अन्त में इन्द्रियों के दुर्बल होने पर तृष्णा सताती है, यह दुःख है।

(२) ताप-दुःख—विषय सुख के मिलने पर राग, क्लेश (२।७) उत्पन्न होता है। उनमें जो रुकावटें होती हैं, उनमें द्वेष पैदा होता है। यह राग, द्वेष दोनों ही दुःखदायी हैं।

(३) संस्कार-दुःख—राग द्वेष के वशीभूत होकर मनुष्य शुभाशुभ कर्म करता है, उनके संस्कार आवागमन के चक्र में डालकर दुःखदायी होते हैं।

(४) गुण वृत्ति विरोध-दुःख—गुणों के कार्य का नाम गुण वृत्ति है। सतोगुण का कार्य प्रकाश सुखदायी है। तमोगुण का काम अज्ञान दुःख है। रजोगुण मोह कर्त्ता है। इन तीनों गुणों में परस्पर एकता न होने से जब एक गुण दूसरे को दबा लेता है, कभी दूसरा उसको दाब लेता है। कभी सतोगुण रज तम को दबा लेता है तो सुख वृत्ति का भान होता है। जब रज को अन्य दबा लेता है, तब दुःख होता है। एवं जब तम सत्व की बहुल्यता होती है तो मोह होता है।

उपर्युक्त सभी दुःखों-सुखों को तथा विवेक द्वारा प्राप्त सुख को

भी विषय जन्य समझकर विवेकी पुरुष त्याग देता है, जिस प्रकार विष मिले हुये स्वादिष्ट पदार्थ को भी मनुष्य त्याग देता है।

हेय क्या है ? उसको अगले सूत्र में कहते हैं।

हेयं दुखमनागतम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—जो आया नहीं है, आने को है, वह दुःख हेय है अर्थात् त्यागने योग्य है।

व्याख्या—शास्त्रकार ने चार संज्ञा दुःख की बताई हैं – (१) हेय, (२) हेय हेतु, (३) हान, (४) हानोपाय।

(१) हेय—उस दुःख को कहते हैं जो त्याज्य है।

(२) हेय हेतु—द्रष्टा-दृश्य का संयोग दुःख का कारण है।

(३) हान—दुःख का नाश संयोग का अभाव कैवल्य है।

(४) हानोपाय—विवेक ख्याति, कैवल्य साधन जो सूत्र १६ में कहा है।

इस जन्म से पहले अनेक योनियों में अनन्त दुःख भोगे जा चुके हैं। वह समाप्त हो गये, वे हेय (त्याज्य) नहीं हो सकते तथा वर्तमान दुःख जो भोगा जा रहा है वह भोग पूरा होने पर स्वयं समाप्त हो जायगा, अतः उसके भी उपाय करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु आने वाले दुःख जो अभी तक प्राप्त नहीं हुये हैं, विवेकी विवेक ज्ञान द्वारा उन्हीं दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। जब वे समूल नष्ट हो जाते हैं तो फिर अंकुरित नहीं होते। अतः भविष्य में होने वाले दुःख हेय हैं।

हेय दुःख का कारण हेय हेतु कहते हैं।

द्रष्टृदृश्ययो संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

सूत्रार्थ—द्रष्टा और दृश्य का संयोग 'हेय हेतु' त्याज्य दुःख का कारण है।

व्याख्या—दृष्टा जीव 'पुरुष' है एवम् चेतन है। दृश्य त्रिगुणात्मक प्रकृति के कार्य-भूत इन्द्रिय-रूप भोग के विषय हैं तथा जड़ हैं। इनका संयोग ही जड़ चेतन की ग्रन्थि है। यही दुःख देने वाली, संसार चक्र में घुमाने वाली है। जड़ चेतन की गाँठ पड़ने पर शुद्ध आत्मा अपने चित्त की वृत्तियों के अनुरूप ही अपने को मानने लगता है जैसे दर्पण के सामने जो वस्तु रक्खी होती है वही उसमें दीखती है, इसी प्रकार आत्मा रूपी दर्पण में वृत्तियों का दर्शन होने से आत्मा भी वैसा ही अपने को मानने लगता है। सारांश यह है कि जो पुरुष (दृष्टा) प्रकृति (दृश्य) को विवेक ज्ञान से जान लेता है, वह दुःख को त्याग कर भव बन्धन के दुःख से मुक्त होकर कैवल्य स्थिति को प्राप्त करता है।

हेय दुःख बताकर तथा हेय हेतु निरुपण करके अब दृष्टा का स्वरूप, उसका कार्य प्रयोजन कहते हैं।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं
भोगापवर्गार्थं दृश्यम ॥१८॥

सूत्रार्थ—जो प्रकाश, क्रिया, स्थिति स्वभाव रूप अर्थात् सत रज तमोगुण रूप हैं तथा भूत व इन्द्रियात्मस्वरूप तथा भोग, अपवर्ग, मोक्ष जिसका प्रयोजन हैं, वह दृश्य है।

व्याख्या—तीनों गुण सत-रज-तम और इनका कार्य जो देखने सुनने समझने में आता है, वह सभी दृश्य है। सत्व गुण का प्रकाश मुख्य धर्म है, रजोगुण का मुख्य गुण क्रिया चंचलता है, तमोगुण का मुख्य धर्म जड़ता है। ये सब गुण एक दूसरे के आश्रयीभूत और भिन्न भिन्न हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। सब अवस्थाओं में अनुगत तीनों गुणों का जो प्रकाश, क्रिया, स्थिति रूप स्वभाव है, यह वह दृश्य स्वभाव है।

पाँच स्थूल भूत, पाँच तन्मात्रा, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रिय।

और मन, बुद्धि अहंकार यह २३ तत्त्व इन्हीं गुणों के कार्य, इन्हीं के विभिन्न रूप हैं, यह त्रिगुणात्मक दृश्य भोगासक्त को अपना स्वरूप दिखला कर भोग देता है। मुक्ति के इच्छुक योगी को मुक्ति देता है, यह उसका प्रयोजन है।

अब गुणों के परिणाम (अवस्था) का भेद कहते हैं।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

सूत्रार्थ—विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र, अलिङ्ग यह चार गुणों की अवस्थायें (परिणाम) है।

व्याख्या—सत, रज, तम, इन तीनों गुणों के १—विशेष, २—अविशेष, ३—लिङ्गमात्र, ४—अलिङ्ग, यह चार परिणाम हैं।

(१) विशेष—पाँच महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तनमात्राओं के कार्य हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, नासिका; पाँच कर्मेन्द्रियाँ-वाणी, हस्त, पाद, लिंग, गुदा तथा मन ये सोलह तीनों गुणों के विषय परिणाम हैं। इनको विशेष इसलिये कहते हैं कि तीनों गुणों के सुख-दुःख मोहादि जो विशेष धर्म हैं, वे सब शान्त, मूढ़, घोर रूप से इनमें रहते हैं।

(२) अविशेष—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पांच तन्मात्राएें तथा छठवाँ अहङ्कार जोकि मन इन्द्रियों का कारण है, इनकी अविशेष संज्ञा है, क्योंकि इनका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता—इसलिये ये छै, तीनों गुणों के अविशेष परिणाम है।

(३) लिंग मात्र—२२ तत्त्वों का कारण भूत महत्तत्त्व, इसका ज्ञान सत्तामात्र होने से इसका नाम लिंग मात्र है।

(४) अलिंग—मूल प्रकृति-अर्थात गुणों की साम्यावस्था अलिंग हैं। उसका कोई चिह्न न होने से अलिंग है।

ये तीनों गुणों के परिणाम की चार अवस्था विशेष हैं। इनमें से पहिली तीन अवस्थायें गुणों के विषम परिणाम से होती हैं। यही

पुरुष के प्रयोजन को साधती हैं। चौथी अलिंग अवस्था में गुणों में साम्य परिणाम हैं, इसकी पुरुष के भोग अपवर्ग किसी प्रयोजन में प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इसी अवस्था की ओर गुणों के जाने की प्रवृत्ति मूल अवस्था होने से होती है। इसी को माया कहते हैं।

दृष्टा के स्वरूप को बताते हैं।

दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

सूत्रार्थ—दृष्टा (ज्ञान स्वरूप आत्मा) जो देखने की शक्ति मात्र हैं; निर्विकार होता हुआ भी चित वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है।

व्याख्या—सब धर्मों से रहित केवल चेतन मात्र (ज्ञान स्वरूप), सर्वथा शुद्ध, निर्विकार, कूटस्थ असंग, आत्मा है। तो भी चित्त-वृत्ति रूपी दर्पण में प्रतिविम्बित होने से अर्थात् चित्त-वृत्ति के अनुरूप अपने को मानने से दृष्टा कहलाता है। यथार्थ में दृष्टा पुरुष, धर्म रहित ज्योति स्वरुप दीपक की शिखा के समान नित्य, विभु, कल्याण रूप एक रस है, तो भी इसका सम्बन्ध प्रकृति के साथ अनादि सिद्ध अविद्या से माना जाता है। जब तक अविद्या के नाश द्वारा प्रकृति से अलग हो कर अपने असली स्वरूप में स्थित नहीं हो जाता तभी तक दृष्ट संज्ञा है। दृश्य का सम्बन्ध न रहने पर फिर दृष्टा नहीं रहता। फिर तो यह केवल चेतना मात्र सर्वथा शुद्ध निर्विकार है।

दृश्य का प्रयोजन पुरुष के लिये है। यह कहते हैं।

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥२१॥

सूत्रार्थ—उस दृष्टा पुरुष के लिये ही दृश्य का स्वरूप है।

व्याख्या—पहिले बताया हुआ दृश्य का स्वरूप पुरुष के भोग तथा अपवर्ग (मुक्ति) प्रदान करने के लिये है, इसी में उसकी सार्थकता है। अठारहवें सूत्र में दृश्य का वर्णन करते समय यही बात कही है।

पुरुष को अपवर्ग देने के बाद दृश्य का कोई काम बाकी नहीं रहता। उसका नाश हो जाना चाहिये। इसको अगले सूत्र में बताते हैं।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थ—जिसका भोग अपवर्ग पूरा हो चुका, उस कृतार्थ पुरुष के प्रति नष्ट होने पर भी वह दृश्य नष्ट नहीं होता क्योंकि वह दूसरों के लिये भी समान है।

व्याख्या—इस दृश्य की रचना समस्त जीवात्माओं के भोग, अपवर्ग के लिये है न कि किसी एक के लिये ही। जिसका कार्य वह कर चुका है उस कृतार्थ मुक्त पुरुष के लिये उसकी आवश्यकता न रहने से उसके लिये नाश हो जाता है तो भी इसका सर्वथा नाश नहीं होता क्योंकि एक के मुक्त हो जाने से सब मुक्त नहीं हो जाते। दूसरे जीवों को भी भोग अपवर्ग प्रदान करना शेष है। इसलिये उन पुरुषों की क्रम विषमता को प्राप्त हुआ यह दृश्य चेतन रूप आत्मा के द्वारा निज रूप से लब्ध सत्ता वाला ही होता है, नाश, अभाव नहीं होता। योग के सिद्धान्त में किसी भी वस्तु का सर्वथा अभाव 'नाश' नहीं माना है।

संयोग का स्वरूप कहते हैं।

स्व स्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

सूत्रार्थ—स्व शक्ति 'प्रकृति' और स्वामिशक्ति (पुरुष) इन दोनों के स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण हैं, वह संयोग है।

व्याख्या—सूत्रकार ने चित्त और यह सारा जड़ दृश्य पुरुष का अधिकृत पदार्थ कहा है और पुरुष को इसका स्वामी कहा है। स्वशक्ति (दृश्य) के स्वरूप की उपलब्धि जो अपवर्ग रूप है, और स्वामिशक्ति (पुरुष) के स्वरूप की उपलब्धि जो अपवर्ग रूप है, इनके स्वरूप की उपलब्धि का कारण संयोग है, अर्थात् संयोग हटाने के लिये स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि की जाती है। स्वशक्ति सम्प्रज्ञात

समाधि द्वारा, स्वामिशक्ति असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा उपलब्ध की जाती है। दृश्य और दृष्टा अर्थात् चित्त और पुरुष का जो आसक्ति पूर्वक भोग्यत्व भोक्तृत्व भाव सम्बन्ध है, वह संयोग है। सूत्र १७ में संयोग को हेय हेतु कहा है।

संयोग का कारण बताते हैं।

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

सूत्रार्थ—उस संयोग का कारण अविद्या है।

व्याख्या—इस अदर्शन रूपी संयोग का कारण मिथ्याज्ञान अविद्या (२।५) अर्थात् अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र और अनात्मा को आत्मा जानना आदि है। इसी मिथ्याज्ञान से आत्मा और चित्त में विवेक न होने से अभिन्नता मालूम होती है और चित्त की सुख-दुःख मोहरूपी वृत्तियों का पुरुष में अध्यारोप होता है। वही वृत्तियाँ भव बंधन में भटकाती हैं। विवेक ख्याति की स्थिति में सत्य को विशुद्धता से यह अविद्या रूपतम दग्ध बीज भाव को प्राप्त हो जाता है। जब तक अविद्या का संस्कार बना रहता है तब तक आवागमन का बन्धन नहीं छूटता।

अगले सूत्र में 'हान' अर्थात् अविद्या के कारण संयोग के नाश को जो कैवल्य है, उसको कहते हैं।

तदभावातसंयोगाभावो हानं तदृट्टशेः कैवल्यम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—उस अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव हो जाता हैं। यही हान है। (पुनर्जन्मादि भावी दुखों का अत्यन्त अभाव) यही चेतन आत्मा का कैवल्य है।

व्याख्या—यथार्थ ज्ञान होने पर प्रकृति पुरुष के स्वरूप का बोध होता है और अविद्या का नाश हो जाता है। अविद्या के अभाव होने पर

अविद्या के कार्य (संयोग) का अभाव हो जाता है। संयोग का अभाव ही 'हान' है अर्थात् दुःख का नाश है क्योंकि दृश्य का संयोग ही दुःखरूप है। जब पुरुष प्रधान तथा दृश्य से रहित हो जाता है तब भोग रहित हो जाता है, जब तक संयुक्त रहता है तब तक भोगादि से दुःख ही होता है। दुःख नाश ही परम ज्ञान कैवल्य है।

'हान' का वर्णन कर उसका उपाय बताते हैं।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

सूत्रार्थ—निश्चल और निर्दोष विवेक ज्ञान 'हान' का उपाय है।

व्याख्या—जिस ज्ञान से दृश्य पदार्थों (शरीर, इन्द्रिय, चित्त बुद्धि) से आत्मा भिन्न है, यह ज्ञान अर्थात् प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान अलग-अलग होता है, वह 'विवेकख्याति' अर्थात् विवेक ज्ञान कहाता है। यह ज्ञान वेद शास्त्रों महापुरुषों के वचनों से एवं अनुमान प्रमाणों द्वारा उदय होता है। परन्तु यह परोक्ष ज्ञान अनादि काल के अस्मिता अविद्या जनित क्लेशों को समूल नष्ट नहीं कर सकता है, क्योंकि मिथ्या ज्ञान जन्य व्युत्थान के संस्कार बीज रूप से बने रहते हैं और तामस, राजस वृत्तियाँ उदय होती रहती हैं। इन वृत्तियों का उदय होना विप्लव या विच्छेद है। अतः यह विवेक ख्याति, जिसमें विप्लव हों 'हान' का उपाय नहीं है। इसलिए यह विवेक ज्ञान जब बहुत समय तक, निरन्तर क्रिया-योग द्वारा अनुष्ठान बल से, तत्त्वज्ञान से अस्मिता विरोधी भेद ज्ञान से, राग द्वेष विरोधी मध्यस्ता से, अभ्यास वैराग्य से, अथवा ईश्वर प्रणिधान से पूर्ण (पक्व) हो जाता है एवं समाधि द्वारा साक्षात्कार कर लिया जाता है तो उसको अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। इसीसे अविद्या जनित क्लेशों का नाश होकर कर्तृत्व-भोक्तृत्व अभिमान से रहित और गुणों की वृत्तियों से चित्त शून्य हो जाता है। तब सतोगुण के प्रकाश में चित्त में चेतनता का प्रकाश पड़ता है जिसके कारण चित्त में चेतनता

की प्रतीति होती है। चित्त से भिन्न इसका साक्षात्कार होता है, यद्यपि साक्षात्कार चित्त के ही द्वारा होता है परन्तु सतोगुण वृत्ति के होने से और अभ्यास से विवेक ज्ञान निर्मल और स्वच्छ होकर मिथ्या ज्ञान जले बीज के समान अंकुरित होने से असमर्थ हो जाता है। यही अविच्छेद अविप्लव निर्मल 'हान' का उपाय है और वही मोक्ष का उपाय है किसी जगह 'हानोपाय' को ही विवेक ख्याति कहा है और २८वें सूत्र में वर्णित अष्टांग-योग से विवेक ख्याति की प्राप्ति होती है।

योग की निर्मल विवेकख्याति में जैसी प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका स्वरूप बताते हैं।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥२७॥

सूत्रार्थ—निर्मल विवेक ख्याति वाले योगी की सात प्रकार की सबसे ऊँची अवस्था वाली बुद्धि होती है।

व्याख्या—साधक का चित्त विवेक ख्याति द्वारा मल विक्षेप आवरणों से रहित होकर स्वच्छ एवं सांसारिक ज्ञानों के उदय न होने पर विकार रहित हो जाता है, तब उत्कर्ष अवस्था वाली प्रज्ञा सात प्रकार की उत्पन्न होती है। उनमें से प्रथम चार प्रकार की प्रज्ञा कार्य से विमुक्ति अर्थात् चित्त के अधिकार की समाप्ति करने वाली है और प्रयत्न-साध्य है। अन्त की तीन चित्त से विमुक्त करने वाली होने के कारण चित्त विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती है।

पहली चार प्रयत्न करने से प्राप्त होती हैं। किन्तु उन चार के होने पर यह अपने आप प्राप्त हो जाती है। कार्य विमुक्त प्रज्ञा के चार भेद यह हैं।

(१) हेय शून्य अवस्था—जितना गुणमय दृश्य है (योग २।१८।१६) वह सब अनित्य है, परिणामी है एवं संस्कार दुःखों तथा गुण वृत्ति विरोध से दुःख रूप है, इसीलिये हेय है, यह मैंने जान लिया, अब कुछ जानना शेष नहीं रहा।

(२) हेय हेतु क्षीण अवस्था—जो दूर करना था, उसको दूर कर दिया अर्थात दृष्टा और दृश्य का सँयोग जो हेय हेतु है, उसको दूर कर दिया। अब कुछ भी दूर करने योग्य बाकी नहीं रहा (२।१६।१७)।

(३) प्राप्य प्राप्त अवस्था—जो साक्षात् (प्राप्त) करना था समाधि द्वारा प्राप्त कर लिया अब कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा।

(४) चिकीर्षाशून्य अवस्था—जो कुछ करना था वह कर लिया अर्थात् 'हान' का उपाय जो निर्मल और अचल विवेक ज्ञान उसे सिद्ध कर लिया अब और कुछ करना शेष नहीं रहा।

चित्त विमुक्ति प्रज्ञा के तीन भेद इस प्रकार हैं—

(१) चित्त कृतार्थता—चित्त ने अपना अधिकार (भोग अपवर्ग) देना पूरा कर दिया, अब उसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

(२) गुण लीनता—जिस प्रकार पर्वत की शिखर पर से पत्थर गिरने पर खंड खंड हो जाते हैं, उसी प्रकार चित्त अपने कारण रूप में लीन हो रहा है क्योंकि अब उसका कोई काम बाकी नहीं रहा है।

(३) आत्म स्थिति—जब पुरुष गुणों के सम्बन्ध से परे होकर आत्मस्वरूप में अविचल भाव से स्थित हो जाता है तो उसकी आत्म-स्थिति संज्ञा होती है।

इस सात प्रकार की प्रान्त भूमि प्रज्ञा को अनुभव करने वाला मनुष्य जीवनमुक्त योगी कहा जाता है। चित्त जब अपने कारण में लय हो जाता है तब विदेह मुक्त कहाता है।

अब निर्मल विवेक ख्याति प्राप्ति का उपाय कहते हैं।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्यातेः ॥२८॥

सूत्रार्थ—योग के (आठ) अङ्गों के अनुष्ठान से क्लेशरूप

अशुद्धि नाश हो जाने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है।

व्याख्या—आगे वर्णन होने वाले योग के आठ अङ्गों को पूर्णतया अनुष्ठान करने से क्लेश (२।३) रूपी अशुद्धि नष्ट होती हैं और ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है। जितना योगाभ्यास बढ़ता जाता है, उतना ही ज्ञान का प्रकाश तथा क्लेश निवृत्ति अधिक होती है। ज्ञान प्रकाश अंत में विवेक ख्याति की स्थिति प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। योग के अंगों का अनुष्ठान, अशुद्धि वियोग का तथा विवेक ख्याति प्राप्ति का कारण है। कारण की ९ अवस्थायें होती हैं।

१-उत्पत्ति कारण, २-स्थिति, ३-अभिव्यक्ति, ४-विकार, ५-प्रत्यय, ६-प्राप्ति, ७-वियोग, ८-अन्यत्व, ९-धृति।

(१) उत्पत्ति कारण—जैसे बीज वृक्ष का, मन विज्ञान का अविद्या संयोग की उत्पति का कारण है।

(२) स्थिति कारण--आहार शरीर की स्थिति का, पुरुषार्थ मन की स्थिति का कारण है।

(३) अभिव्यक्ति कारण—प्रकाश रूप की अभिव्यक्ति का कारण है।

(४) विकार—अग्नि से जो चीज पकाई जाती है दाल, चावल आदि वह गल कर बदल जाती है। अग्नि उसका विकार कारण है। इसी तरह मन का दूसरे विषय में बदल जाना मन का विकार कारण है।

(५) प्रत्यय—धुयें का देखना अग्नि के ज्ञान का कारणहै ।

(६) प्राप्ति कारण—जैसे योग के अङ्गों का अनुष्ठान विवेक ख्याति की प्राप्ति का कारण है, यही अशुद्धि का वियोग कारण है, धर्म सुख की प्राप्ति का कारण है।

जन्म में आरम्भ से ही 'पर-वैराग्य' प्राप्त कर विराम प्रत्यय के अभ्यास पूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कर लेते हैं। उनकी समाधि इस जन्म में प्रयत्नजन्य नहीं है, इसलिये उनको भवप्रत्यय कहते हैं। भव नाम जन्म तथा प्रत्यय कारण को कहते हैं। भवप्रत्यय से यह अभिप्राय है कि पूर्व जन्म की योग सिद्धि के प्रभाव से जन्म से ही असम्प्रज्ञात योग में प्रवृत्ति होती है। इन विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों को, जो श्रद्धा, वीर्य स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, आदि साधनों का पूर्व जन्म में अभ्यास कर चुके हैं, इन साधनों को उपाय-प्रत्यय वाले योगियों की तरह इस जन्म में नहीं करना पड़ता। जिनका ऐसा कोई पूर्व संचय नहीं है उन्हें किस मार्ग से समाधि प्राप्त हो सकती है इसको कहते हैं।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—**दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं है उनको श्रद्धा, वीर्य, (पुरुषार्थ) स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है।**

व्याख्या—जो विदेह और प्रकृतिलय योगी नहीं हैं उनको प्रारम्भ में शास्त्र तथा आचार्यों के कथन पर अटल विश्वास करके योग की उपयोगिता तथा आवश्यकता अनुभव करते हुये श्रद्धालु बनना चाहिये, क्योंकि श्रद्धा योगी की माता के समान रक्षा करती है। सात्विकी श्रद्धा से योग साधना की तत्परता उत्पन्न करने वाले अभ्यास को 'वीर्य' कहते हैं। यही प्रयत्न है, प्रयत्न से यम नियम आदि क्रम से करते हुये आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने से स्मृति अर्थात् पिछले जन्मों के अक्लिष्ट कर्म और ज्ञान के संस्कार जाग्रत होते हैं। उसके बाद चित्त एकाग्र और स्थिर होने लगता है। उसके पश्चात् प्रज्ञा (विवेक ज्ञान) जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप दीखता है प्राप्त होता है। अर्थात् इसके अभ्यास से 'पर-वैराग्य' और पर-वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि होती है।

उपाय करने वालों में से किसी-किसी को शीघ्र सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं वह कहते हैं।

तीव्र संवेगानामासन्नः ॥२१॥

सूत्रार्थ—जिनके साधन की गति तीव्र है उनकी निर्बीज समाधि शीघ्र सिद्ध हो जाती है।

व्याख्या—जिन उपाय प्रत्यय योगियों का अभ्यास वैराग्य तीव्र भावना से चलता है एवं लगन पूर्ण क्रिया के साथ लगी हुई है, उनको समाधि लाभ तथा उसके फल का लाभ शीघ्रतम होता है। अर्थात् उपाय के अधिमात्र और संवेग के तीव्र होने के कारण पहिले कहे हुये नौ प्रकार के उपाय-प्रत्यय-योगियों में से उनको सबसे अधिक शीघ्रता से समाधि तथा उसका फल कैवल्य प्राप्त होता है। जिनके अभ्यास वैराग्य की गति मन्द होती है उनको उतना ही विलम्ब से समाधि लाभ होता है। तीव्र संवेग भी मृदु, मध्य, अधिमात्र भेद से तीन प्रकार का होता है।

अभ्यास वैराग्य की अधिकता के कारण योग की सिद्धि शीघ्र और अति शीघ्र होती है यह कह कर अब संवेग के तीन भेद कहते हैं।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

सूत्रार्थ—तीव्र संवेग के भी मृदु, मध्य, अधिमात्र भेद से सफलता की अवधि में भी अन्तर होता है।

व्याख्या—समाधि साधन में क्रिया की अपेक्षा भाव का होना विशेष महत्त्व रखता है। भले ही अभ्यास तथा वैराग्य हों लेकिन भावना की तीव्रता लगन एवं निष्ठा साधारण है तो उनका साधन मृदु मात्रा वाला माना जायगा और सफलता में देरी होगी। जिस साधक में श्रद्धा, भक्ति, विवेक, शक्ति और भाव कुछ उन्नत है उनका साधन मध्यम मात्रा वाला है। उनकी सफलता में कुछ कम समय लगेगा। जिन साधकों में श्रद्धा विवेक, भाव अत्यन्त उन्नत है उनका साधन अधिमात्रा वाला होगा

ग्रौर शीघ्र सफलता मिलेगी। तात्पर्य यह है कि जिस साधक की जितनी ग्रधिक लगन होगी उसको उतनी ही शीघ्रता से सफलता प्राप्त होगी।

निर्बीज समाधि प्राप्त होने का सुगम उपाय कहते हैं।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

सूत्रार्थ—ग्रथवा ईश्वर से प्रणिधान (उपासना) से भी समाधि सिद्ध होती है।

व्याख्या—जिस प्रकार बहिर्मुखी चित्त वृत्तियों को साँसारिक विषयों से ग्रभ्यास-वैराग्य द्वारा शमन किया जाता है, उसी प्रकार 'ईश्वर प्रणिधान' ग्रर्थात् मन वाणी कर्म से भावना की भक्ति नाम, रूप लीला, गुण प्रभाव ग्रादि का श्रवण, कीर्तन, मनन करके सब वृत्तियों को ईश्वर में समर्पण कर देने से, ग्रनासक्त कर्मयोग का मार्ग ग्रपनाने से वे शुद्ध हो जाती हैं ग्रौर फिर चंचलता उत्पन्न नहीं करतीं। ग्रर्थात् देह इन्द्रियाँ ग्रन्तःकरण को एवं उनसे होने वाले कर्मों एवं उनके परिणामों, बाह्य ग्रौर ग्रन्तर जीवन को ईश्वर के समर्पण करने से भी चित्त वृत्तियां निरुद्ध होकर समाधि सिद्ध होती हैं।

वह ईश्वर जिसकी भक्ति की जाती है कैसा है इसको ग्रगले सूत्र में बताते हैं।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

सूत्रार्थ—क्लेष, कर्म, विपाक, ग्राशय, इन चारों से रहित जो परम ग्रात्मा है, वह ईश्वर है।

व्याख्या—क्लेश पाँच प्रकार के हैं १—ग्रविद्या, २—ग्रस्मिता, ३—राग, ४—द्वेष, ५—ग्रभिनिवेश, जो इसी ग्रन्थ के दूसरे पाद के तीसरे सूत्र में कहे हैं। कर्म चार प्रकार के हैं पाप, पुण्य, पुण्य ग्रौर पाप मिश्रित, पाप पुण्य रहित। (४।७) कर्मफल के परिपक्व हो जाने पर

अर्थात् सकाम कर्मों के फल सुख, दुःख, जाति, आयु, भाग आदि हैं, इसी को विपाक कहते हैं। आशय-चित्त भूमि में पड़ी सोती हुई जो वासनाएँ हैं जो अभी संस्कार रूप से ही मौजूद हैं, जिनका परिणाम जाति, आयु, भोग, अभी तैयार नहीं हो पाया है, वह कर्माशय हैं।

इन चारों दोषों से रहित, सामान्य आत्माओं जैसी त्रुटियों से सर्वथा शून्य एवं परम श्रेष्ठताओं से युक्त विश्वव्यापी आत्मा परमात्मा है। सूत्रकार ने जो पुरुष विशेष कहा है इससे यह तात्पर्य है कि ऊपर कहे क्लेश, कर्म, विपाक, आशय, इनसे सांसारिक जीवों का अनादि सम्बन्ध है। यद्यपि मुक्त जीवों का पीछे सम्बन्ध नहीं रहता परन्तु पहिले था। परन्तु ईश्वर का तो इनसे कभी भी सम्बन्ध न था और न होने वाला है। इस कारण मुक्त पुरुषों से भी ईश्वर विशेष है और इनसे परे है।

ईश्वर की विशेषता बताते हैं।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम ॥२५॥

सूत्रार्थ—उस ईश्वर में (निरतिशय) सबसे ऊँची स्थिति की सर्वज्ञता है।

व्याख्या—ईश्वर में ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसी प्रकार धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री, विभूति, सम्पत्ति की भी पराकाष्ठा है। संसार में जो कुछ भी ज्ञान-अज्ञान तथा संभावित ऐश्वर्य हैं इस सब की परमावस्था ईश्वर में है। सूत्र में 'निरतिशय' कहा है, उसका तात्पर्य है कि जिससे बड़ा कोई न हो। जिससे बढ़कर कोई होता है उसको 'सातिशय' कहते हैं।

आत्माओं में यह सब बातें उनकी स्थिति के अनुसार सीमित हैं। शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवों तथा आत्माओं का प्रेरक एवं प्रकाशदाता भी ईश्वर ही है। यही आगे कहते हैं।

स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

सूत्रार्थ—वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न ब्रह्मादिकों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से परिच्छिन्न (परिमित) नहीं है।

व्याख्या—ब्रह्माजी सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुये और वेदों द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान का उपदेश करने के कारण शास्त्रों में उनको भी गुरु कहा है। परन्तु ब्रह्मादि सृष्टि से पहिले और महाप्रलय के अनन्तर उत्पन्न विनाशशील होने से काल परिच्छिन्न हैं, वैसा ईश्वर नहीं है। क्योंकि वह हमेशा मौजूद रहने से काल परिच्छिन्नता से रहित है। इसलिये ब्रह्मादि देवताओं को ज्ञान प्रदान करने से ईश्वर उनका भी गुरु है और उपदेष्टा है। सूत्र में गुरु शब्द ईश्वर के लिये प्रयोग किया है, उसका मतलब यह है कि राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, माता-पिता आदि में स्वार्थ सिद्धि से प्रेम आदि भाव हो जाते हैं किन्तु गुरु तो आध्यात्मिक विषयों का शिष्य को ज्ञान देता है। अतः ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है।

मुमुक्षु पुरुष को चाहिये कि समाधि साधन को ऐसे गुरु से उपदेश ले जो धन, सम्पत्ति, मान, प्रतिष्ठा आदि का इच्छुक न हो तथा जन्म से जाति पाति की तथा मतान्तरों की संकीर्णता, सांप्रदायिकता के भाव न हों अथवा जो किसी शक्ति या देवी देवता की उपासना कर उपदेश करें। गुरु ऐसा हो जो शिष्य के गुण, कर्म, स्वभाव और सात्विक संस्कारों पर ध्यान रखकर उसको उसके अन्तिम लक्ष्य (समाधि) तक पहुँचा दे।

ईश्वर का निरूपण करके अब उसका नाम बताते हैं।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

सूत्रार्थ—उस ईश्वर का नाम 'प्रणव' ॐ है।

व्याख्या—शास्त्रों में ईश्वर के अनेक नाम कहे हैं और अनेक

भाषाओं तथा देशों में ईश्वर के अनेक नाम लिये जाते हैं। परन्तु मूल प्रकृति और ईश्वर का जिस स्थान पर सम्बन्ध है वहां से एक ॐ ध्वनि निरन्तर निकलती रहती है। वह ध्वनि ही शक्ति रूप में परिणित होकर संसार के अनेक कार्यों को पूर्ण करती है। इस स्वयं निसृत-ध्वनि को योगी लोग ध्यान पूर्वक समाधि द्वारा सुनते और ब्रह्मानन्द का आस्वादन करते हैं। इसी दिव्य ध्वनि को ईश्वर के स्वयं घोषित नाम को ओंकार कहते हैं। इस 'ॐ' के ही पर्यायवाची अनेकों नाम हैं और इसी से अनेक नाम, गुणों का ग्रहण होता है। अ-उ-म यह तीन अक्षर मिलकर 'ॐ' होता है। 'अ'कार विराट्, अग्नि, विष्णु आदि अर्थ का बोधक है, 'उ'कार से हिरण्य गर्भ, शंकर, तैजस नामों का ग्रहण होता है, 'म'कार से ईश्वर प्राप्ति, प्रकृति आदि नामों का ग्रहण होता है। विराट् विविध प्रकार के संसार में प्रकाशित ज्ञान वालों से पूजित तथा सम्पूर्ण भूतों में व्यापक सूर्य आदि जिनके अन्तर्गत हैं कल्याण करने वाला तेज स्वरूप है। ज्ञान रूप तथा सब जगत को उत्पन्न करने वाला है। ओंकार नाम से मानसिक जप की परिपक्व अवस्था के पश्चात् योगी केवल ध्यान रूप ध्वन्यात्मक प्रणव की भूमि में पहुँच जाता है। इसलिए योगियों को ॐ नाम से ही उपासना करनी चाहिये। यही ईश्वर का मुख्य नाम है। सभी वेद स्मृतियां इसी ॐ को कहती हैं।

नाम कहकर अब ईश्वर की उपासना की विधि बताते हैं।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—प्रणव का जप और अर्थ विचारने से समाधि लाभ होता है।

व्याख्या—प्रणव का जप ही योग का सर्वप्रधान एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है। प्रणव का जप और चिन्तन करने से चित्त चञ्चलता रहित हो जाता है। जप से योग तथा योग से जप करें तथा दोनों के बल से

परमात्मा का ज्ञान होता है। इसी को ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर की शरणागति कहते हैं। यही अनन्य भाव से लीन होना है। चित्त को सब ओर से हटाकर ईश्वर में लगा देने का नाम भावना है उस भावना से अविद्या आदि क्लेश, सकाम कर्म, कर्मफल, वासनाओं के संस्कार जो बंधन जन्म मृत्यु के कारण हैं, चित्त से धुल जाते हैं, सात्विक ज्ञान के संस्कार उदय होते हैं केवल परमात्मा ही ध्येय रह जाता है। यह भावना बार-बार अभ्यास से इतनी दृढ़ हो जाती है कि ॐ कहने से ही ईश्वर का स्वरूप स्मरण हो जाता है, जैसे गौ का नाम लेने से उसके स्वरूप का स्मरण हो जाता है। तब सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

उस सम्प्रज्ञात समाधि में सतोगुण रजोगुण को दबा लेता है, तब स्थूल शरीर स्थूल दशा में व्युत्थान बन्धन के कार्य बन्द कर देता है। सूक्ष्म शरीर सत्वगुण का प्रकाश पाकर सूक्ष्म जगत में काम करता रहता है। इसी क्रम से निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। अब ईश्वर के नाम, स्वरूप चिन्तन का फल बताते हैं।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥२९॥

सूत्रार्थ—उक्त साधन के बाद विघ्नों का अभाव और अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान भी होता है।

व्याख्या—साधक की निष्ठा को भङ्ग करने को अनेक विघ्न आते हैं, परन्तु पूर्व सूत्र में कहे ॐकार का जप तथा ईश्वर प्रणिधान से विघ्नों का भी शमन होता है तथा ईश्वर के साक्षात्कार का मार्ग भी सरल हो जाता है। ईश्वर के जिन गुणों की भावना करके उपासक ध्यान करता है उन्हीं गुणों का उपासक में समावेश होता है। जैसे ईश्वर चेतन कूटस्थ नित्य हैं और क्लेशादिकों से रहित है वैसे ही जीवात्मा भी चेतन कूटस्थ नित्य और क्लेशादिकों से रहित है। इस समानता से ईश्वर के

ध्यान रूप-प्रणिधान से प्रणिधान कर्ता को अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूप का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता हैं ।

जो विघ्न योग से पथभ्रष्ट करते हैं उनको कहते हैं ।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रन्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

सूत्रार्थ—(१) व्याधि, (२) स्त्यान, (३) संशय, (४) प्रमाद, (५) आलस्य, (६) अविरति, (७) भ्रान्ति दर्शन, (८) अलब्ध-भूमिकत्व, (९) अनवस्थितत्व, ये नौ चित्त के विक्षेप हैं, वे ही विघ्न हैं ।

व्याख्या—साधक को योग मार्ग से पथ-भ्रष्ट करने वाले नौ विघ्न हैं उनकी व्याख्या बताते हैं ।

(१) व्याधि—शरीर में कोई रोग, इन्द्रियों में शिथिलता, एवं चित्त में भ्रम उद्वेग का होना व्याधि है ।

(२) स्त्यान—असमर्थता और अकर्मण्यता, काम करने योग्य समुचित उत्साह का अभाव अथवा सामर्थ्य की न्यूनता स्त्यान कहलाता हैं ।

(३) संशय—योग विद्या की वास्तविकता पर या अपने प्रयत्न की सफलता पर सन्देह होना संशय कहलाता है ।

(४) प्रमाद—योग साधन में लापरवाही करना, नियमित कार्य-क्रम को अधूरा ही छोड़ देना और उसके बिगड़ने पर भी चिन्ता न करना प्रमाद है ।

(५) आलस्य – शरीर में भारीपन या तमोगुण रहने से आलसी हो जाना, कार्य में मन न लगना, सुस्ती का छाया रहना आलस्य होता है ।

(६) अविरति— विषयों के साथ संयोग होने से मन का विषयों में ही पड़ा रहना, चित्त में वैराग्य का अभाव हो जाना अविरति है।

(७) भ्रान्ति दर्शन—किसी कारण से अध्यात्म-दर्शन तथा साधन मार्ग का ठीक ज्ञान न होना अथवा यह साधन ठीक नहीं है ऐसा मिथ्याज्ञान ही भ्रान्ति दर्शन है।

(८) अलब्ध भूमिकत्व—साधन करने पर भी साधक की स्थिति का प्राप्त न होना, बीच में मन का वेग रुक जाना अलब्ध भूमिकत्व कहलाता है।

(९) अनवस्थितत्व—चित्त का स्थिर न रहना भूमिका तक पहुँचकर भी अस्थिरता के कारण मनोभूमि का डांवाडोल रहना अनवस्थितत्व कहलाता है।

इन नौ चित्त विक्षेपों को अन्तराय, विघ्न और योग-प्रतिपक्षी भी कहते हैं इनके अलावा और भी विघ्न हैं, उनका आगे वर्णन करते हैं।

दुखःदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप-सहभुवः ॥३१॥

सूत्रार्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास, यह विघ्न विक्षेपों के साथ रहते हैं।

व्याख्या—पहले सूत्र में योग के नौ विक्षेप कहे हैं किन्तु उनके होने पर और भी पाँच विघ्न उपस्थित हो जाते हैं उनको कहते हैं (१) दुःख, (२) दौर्मनस्य, (३) अङ्गमेजयत्व, (४) श्वास, (५) प्रश्वास।

(१) दुःख—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीन प्रकार के होते हैं। काम, क्रोध, राग, द्वेष, चिन्ता, भय आदि के कारण मन इन्द्रिय शरीर में ताप या पीड़ा एवं विकलता होती है, उसको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। सिंह, सर्प, शत्रु, दस्यु, मच्छर आदि के कारण

होने वाली पीड़ा को आधिभौतिक दुःख तथा सर्दी, गर्मी, बिजली, अति-वर्षण, अग्नि, भूकम्प, पवन आदि के कारण होने वाली पीड़ा को आधि-दैविक दुःख कहते हैं। (२) दौर्मनस्य—इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में क्षोभ होना। (३) अङ्गमजयत्व—शरीर के अवयवों अङ्गों का कांपना। (४) श्वास—श्वास पर नियंत्रण न रहना, बिना इच्छा के बाहर की वायु नासिका द्वारा अन्दर जाना। (५) प्रश्वास—श्वास पर काबू न रहने से भीतर की वायु नासिका द्वारा बाहर निकल जाना—यही पाँच उप-विक्षेप कहे जाते हैं। पहिले कहे नौ विक्षेप तथा पाँच उपविक्षेप चंचल चित्त वालों को होते हैं किन्तु जिनका मन एकाग्र हो गया है उनको नहीं होते। अतः इन समाधि के शत्रुओं को अभ्यास, वैराग्य द्वारा नियन्त्रण में करना चाहिये।

इन विक्षेपों को दूर करने का उपाय बताते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

सूत्रार्थ—उन विक्षेपों को दूर करने के लिये एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।

व्याख्या—चित्त वह पदार्थ है जिससे अनेक विषयों का चिंतन होता है। बस चित्त को अनेक विषयों से हटाकर एक ईश्वरीय विषय में अर्थात् ईश्वर प्रणिधान में लगावे। कई विद्वानों का मत है कि ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व या लक्ष्य का तत्परतापूर्वक ध्यान करके चित्त की एकाग्र अवस्था प्राप्त करे। परन्तु एक तत्व से तात्पर्य परब्रह्म परमात्मा से ही है, अतः उसी ईश्वर का ध्यान तन्मयता के आधार पर करे तब विक्षेप और उप-विक्षेप दूर होते हैं।

विषयों के मन कैसे हठ सकता है? उसका सरल उपाय कहते हैं।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् ॥३३॥

सूत्रार्थ—सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा पापात्मा (प्राणियों के साथ), मित्रता, दया, प्रसन्नता, उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल हो जाता है ।

व्याख्या—चित्त में ६ प्रकार का मल उत्पन्न होता है जो रजोगुण, तमोगुण की वृत्तियों की अधिकता से होता है । उनके नाम इस प्रकार हैं—१—राग कालुष्य, २—ईर्षा कालुष्य, ३—परोपकार चिकीर्षा कालुष्य, ४—असूया कालुष्य, ५—द्वेष कालुष्य, ६—अमर्ष कालुष्य ।

(१) राग कालुष्य—वह है जो स्वयं सुख का अनुभव करते हुये सदैव सुखी रहने की इच्छा हो परन्तु सर्व सुख साधनों के न होने से चित्त मलिन हो जाता है ।

(२) ईर्ष्या कालुष्य—दूसरों की सम्पत्ति, गुण, यश देखकर डाह करना ।

(३) परोपकार चिकीर्षा कालुष्य—दूसरे मनुष्यों की बुराई या अपमान करना ।

(४) असूया कालुष्य—दूसरे के गुणों में दोष लगाना, विद्वान को मूर्ख, मुनीश्वर को पाखंडी कहना ।

(५) द्वेष कालुष्य—किसी से द्वेष करना ।

(६) अमर्ष कालुष्य—अपने को कोई गाली दे या कठोर वचन कहे अथवा कोई अपना अपमान करे उसको न सहकर बदला लेने की चेष्टा करना ।

इन मलों से चित्त मलिन होकर विक्षिप्त हो जाता है पुनः साधन में एकाग्र नहीं होता । इसलिये इन मलों को निवृत्ति करके चित्त को प्रसन्न एकाग्र करने का सूत्र में उपाय कहा है ।

(१) सुखी मनुष्यों को देखकर उन पर मित्र भाव रखने से राग

ईर्ष्या कालुष्य मिट जाती है अर्थात् मित्र के सुख को अपका सुख समझने से जलन (ईर्ष्या) मिट जाता है।

(२) दुःखी मनुष्यों पर दया रखने से "आत्मवत् सर्वभूतेषु" अपने ही समान सब प्राणियों के दुःख सुख का अनुभव करते हुये दुःखी को देखकर उसके दुःख को दूर करने की चेष्टा करना। इस प्रकार घृणा नष्ट हो जाती है।

(३) पुण्यात्मा (जो मनुष्य धर्म मार्ग में लगे हैं) उनको देखकर चित्त में हर्ष होना उनकी प्रशंसा करने से असूया अर्थात् झूठे कलंक लगाने की, निन्दा चुगलई की वृत्ति नष्ट हो जाती है।

(४) जो मनुष्य पापी हैं और अपने से कठोर वचन बोले या अपमान करें उनसे बदला न लेकर उदासीनता भाव रखने से अकर्षमल द्वेष और कठोरता की शान्ति होती है। इस तरह चित्त के मल जब धुल जाते हैं तब स्वच्छ चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है और एकाग्रता लाभ करता है। यह उपाय समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारी के लिये है। विक्षिप्त चित्त वाले मध्यम अधिकारियों को साधन पाद में कहे अष्टाङ्ग योग का आश्रय लेना पड़ता है।

चित्त निर्मल करने का अन्य उपाय प्राणायाम बताते हैं।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

सूत्रार्थ—अथवा प्राण वायु को बारम्बार बाहर निकालने और रोकने (अर्थात प्राणायाम) करने से चित्त निर्मल होता है।

व्याख्या—सूत्रकार ने रेचक, कुभंक प्राणायाम का वर्णन किया है। उदरस्थ वायु को विशेष प्रयत्न से नासिका के छिद्रों द्वारा बाहर फेंकने को प्रच्छर्दन कहते हैं। बाहर फेंकी हुई वायु को वहीं रोक देने को विधारण कहते हैं। प्रच्छर्दन तथा विधारण दोनों प्राणायामों से मन की स्थिति को सम्पादन करें। प्राणायाम कई प्रकार का है-लोम, विलोम अनुलोम, सूर्य भेदी, उज्जायी, शीतकारी, भ्रामरी, मूर्छा आदि। परन्तु

अनुभवी गुरू से अपनी स्थिति के अनुकूल प्राणायाम का चुनाव कर प्रयत्नशील होना चाहिए। रेचक-पूरक-कुभंक प्राणायाम का वर्णन साधन पाद में दिया गया है। संक्षेप से यहाँ भी बताते हैं—

रेचक—श्वास को नासिका छिद्रों द्वारा बाहर निकालना।

पूरक—नासिका छिद्रों द्वारा श्वाँस को अन्दर ले जाना।

कुभंक—बाहर या अन्दर वायु को रोक देना।

परन्तु इस सूत्र में प्रच्छर्दन, विधारण प्राणायाम कहा है जो कपाल भांति से मिलता जुलता है। किसी सुखासन पर बैठकर यथा शक्ति रेचक ही करते रहना चाहिये, पूरक स्वयं हो जाता है इस क्रिया में कुभंक नहीं किया जाता। जब इसका अभ्यास हो जावे तब विधारण अर्थात् श्वास को जो उदर से निकाली हुई है उसको यथा शक्ति उचित समय तक रोक देना चाहिये। इसी तरह अभ्यास करने से मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है। प्राण वायु तथा इन्द्रियों का कार्य करने में अधिक सम्बन्ध है। प्राण निरोध से इन्द्रियों तथा मन का निरोध आसानी से हो जाता है। प्राण वायु के पाँच भेद है— (१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान (५) व्यान।

(१) प्राण वायु हृदय से लेकर नासिका तक विचरण करती है। इसका कार्य श्वास अन्दर से जाना, बाहर निकालना, मुख नाक से गति करना, खाये अन्न को पचाना, अन्न की विष्ठा, पानी का पसीना, मूत्र रसादि का वीर्य बनाना आदि है। ऊपर की इन्द्रियों का कार्य उसके आश्रित है।

(२) अपान वायु नाभि से लेकर पैरों तक घूमती है। गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र, अंडकोश से वीर्य, गर्भ को नीचे ले जाना इसका काम है। निचली इन्द्रियों का कार्य इसके अधीन है।

(३) समान वायु नाभि से हृदय तक रहती है। पचे हुये रस को सब अंगों में नाड़ियों द्वारा पहुँचाती है।

(४) व्यान का स्थान लिंग इन्द्रिय से ऊपर है। इसका कार्य सब नाड़ियों में रुधिर का संचार करना है।

(५) उदान कंठ में रहता हुआ सिर तक गति करता है। शरीर को उठाये रखना इसका कार्य है।

पाँच वायु और हैं। (१) नाग वायु-छींकना, (२) कूर्म वायु-क्षुधा (३) क्रकर वायु-तृषा, (४) देवदत्त वायु-निद्रा तन्द्रा, (५) धनंजय वायु-पोषण का कार्य करती हैं। परन्तु यह पूर्वोक्त पंच प्राणों के ही अन्तर्गत हैं।

मन को स्थिर करने का अन्य उपाय बताते है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-निबन्धनी ॥३५॥

सूत्रार्थ—अथवा विषय वाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर वह भी मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है।

व्याख्या—इन्द्रियों के विषय गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द से उत्पन्न साधना वृत्ति मन की स्थिति को निरुद्ध करती है। जैसे—नासिका के अग्र भाग में संयम से दिव्य का साक्षात्कार किया जाता है उसको गंध प्रवृत्ति कहते हैं। जिह्वा के अग्र भाग में दिव्य रस का साक्षात्कार किया जाता है उसे रस प्रवृत्ति कहते हैं। तालु में दिव्य रूप का साक्षात्कार किया जाया है उसे रूप प्रवृत्ति कहते हैं। जिह्वा के मध्य भाग में दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार किया जाता है उसको स्पर्श प्रवृत्ति कहते हैं। जिह्वा के मूल में संयम की दृढ़ता से शब्द का साक्षात्कार होता है उसको शब्द प्रवृत्ति कहते हैं।

इस प्रकार प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त की स्थिति को बाँधती हैं। अतः विश्वास श्रद्धा के साथ किसी योग्य गुरु के उपदेश से प्रवृत्तियों में से एक का अभ्यास करना चाहिये। चंद्र, सूर्य, नक्षत्र, मणि, दीपक आदि में संयम से जो साक्षात्कार होता है वह भी विषयवती प्रवृत्ति है।

मन को स्थिर करने का तीसरा उपाय बताते हैं।

विशोका वा ज्योतिष्मतो ॥३६॥

सूत्रार्थ--अथवा शोक रहित प्रकाश वाली वृत्ति मन को स्थिर करती है।

व्याख्या—जिस प्रकार विषयवती प्रवृत्ति मन को स्थिर करती है उसी प्रकार विशोका प्रवृत्ति भी मन को स्थिर करती है। विषयवती प्रवृत्ति के नासिका अग्रभाग, जिह्वा अग्रभाग आदि पाँच स्थान है वहाँ मन को स्थिर किया जाता है। ऐसे ही विशोका वृत्ति में हृत् पद्म में मन को स्थिर किया जाता है, उसको क्रिया कहते हैं। पहले रजोगुण, तमो गुण से उत्पन्न जो शोक मोहादि हैं, उनका समाधान कर लेने और अज्ञानान्धकार को दूरकर ज्ञान का प्रकाश जला लेने से सतोगुणी निर्मल वृत्ति उत्पन्न होती है उससे मन स्थिर हो जाता है। अभ्यास यह है कि हृदय-स्थान में एक कमल जैसी सूक्ष्म ग्रंथि है उसको हृत्-पद्म कहते हैं। इसकी आठ पंखुड़ियाँ हैं। मुख नीचे, जड़ ऊपर को है पँखुड़ियाँ बन्द हैं। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा इस अधोमुख कमल का मुख ऊपर को सीधा किया जाता है, जैसे फूल की कली खिलकर फूल के रूप में विकसित होती है। इस कमल के बीच में ॐकार स्थित है जिसका 'अ' सूर्य रूप, 'उ' चन्द्र रूप, 'म' अग्नि मण्डल रूप है। उसके ऊपर अर्ध मात्रा ब्रह्मानंद स्वरूप हैं। उस कमल की कणिकाओं में ऊपर की ओर मुख किये सुषुम्ना नाड़ी है। उसी के अन्तर्गत ब्रह्म नाड़ी है जो मूर्धा तक चली गई है। मूर्धा से बाहर भी इस ब्रह्म नाड़ी का सम्बन्ध सूर्य लोक आदि लोकों में है। इस नाड़ी में चित्त का निवास है। ध्यान योग तथा प्राणायाम के आधार पर जब हृत् पद्म का साक्षात्कार एवं विकास किया जाता है तो उसमें निवास करने वाला चित्त सूर्य, चन्द्र, मणि आदि ज्योतिषों के रूप में दिखाई पड़ता है, इस साक्षात्कार को ज्योतिष्मती कहते हैं। इसके उदय होने पर रज तम से उत्पन्न शोकादि शांत हो जाते हैं। इसीलिए इसको विशोका वृत्ति कहते हैं।

मन की स्थिरता का और भी उपाय बताते हैं।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

सूत्रार्थ--अथवा वीतराग पुरुषों (राग रहित योगियों) का विषय करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है।

व्याख्या—जिन पुरुषों के राग द्वेष नाश हो चुके हैं जैसे—शुकदेव आदि, उनको ध्येय बनाकर उसके सदृश अपनी भावना करने से एवं अपनी मानसिक स्थिति उन्हीं के समान बना देने से उन्हीं के समान अनुभव होने लगता है। योगी का चित्त कैसा निर्मल है, केवल इतना कहना ही पर्याप्त नहीं, किन्तु उन्हें अपने निर्मल चित्त से संसार के पदार्थ कैसे लगते होंगे उन सबके बारे में योगी का मन जो सोचता और अनुभव करता होगा उस अनुभूति की भावना अपने मन में लाने के लिये अपने चित्त को योगी के चित्त की स्थिति में पहुंचाना होता है, इस साधना से मन निर्मल होता है।

पांचवां उपाय बताते हैं।

स्वप्ननिद्राज्ञानालंबनं वा ॥३८॥

सूत्रार्थ--स्वप्न और निद्रा ज्ञान का सहारा लेने वाला मन स्थिर होता है।

व्याख्या—स्वप्न में देखे हुए अलौकिक पदार्थों से कभी-कभी चित्त को बड़ा आनन्द होता है ऐसा जाग्रत अवस्था में नहीं होता। जैसे—किसी इष्ट देव के दर्शन होना, ना, योगी या महापुरुष हो जाना अथवा कोई और असाधारण सुख की सफलता पाना, उस हालत में जो अति हर्ष होता है उसकी भावना (स्वप्न की याद करते हुए) करने से भी मन में वशीकार होता है। इस साधना को वे ही साधक कर सकते हैं जिनने जाग्रत की अपेक्षा कभी कोई स्वप्न में असाधारण आनन्द देखा हो।

(७) वियोग—कुठार वृक्ष के वियोग का कारण है, इसी तरह योगाङ्गों का अनुष्टान अशुद्धि के वियोग का कारण है।

(८) अन्यत्व कारण—सुनार सोने की चीज का रूप बदल देने से अन्यत्व कारण है।

(९) धृति कारण—जैसे शरीर इन्द्रियों (प्राणों) के धारने का कारण है, और इन्द्रियाँ शरीर की तथा महाभूत शरीर के, मनुष्य पशु, पक्षी आदि योनियों के कारण हैं, इस प्रकार एक दूसरे के सहायक हैं। योग के अंगों का अनुष्ठान अशुद्धि के नाश का कारण तथा विवेक की प्राप्ति का कारण है।

योग के आठ अङ्ग अगले सूत्र में बताते हैं।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-
ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥

सूत्रार्थ—(१) यम, (२) नियम (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि- ये आठ योग के अंग हैं।

व्याख्या—विवेक ख्याति प्राप्त करने के लिये अष्टांग योग अति उत्तम साधन है। वैसे पंतजलि मुनि ने समाधि पाद में अन्य उपाय भी वर्णन किये हैं। जैसे अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, वीर्य आदि। पर ये भी क्रिया योग (अष्टांगयोग) के ही अन्तर्गत आ जाते हैं अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि बिना अभ्यास वैराग्य के नहीं प्राप्त होती, श्रद्धा वीर्य (पुरुषार्थ) के बिना कोई साधन नहीं बनता। क्रियायोग के तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान 'नियम' के अन्तर्गत आते हैं।

पूर्वोक्त सकाम कर्म, जिनकी जननी अविद्या है, अविद्या से अस्मिता, उससे राग, राग से द्वेष, इनसे अभिनिवेश, उससे सकाम कर्म, उनकी वासनाओं से जन्म आयु भोग और उनमें सकाम कर्मों के पाप

पुण्य के अनुसार दुःख-सुख होते हैं। उनकी निवृत्ति का अष्टांग योग मुख्य साधन है। इसके आठ अंगों को क्रमानुसार बताते हैं।

(१) यम--सबसे पहले व्यवहारिक जीवन को यमों द्वारा सात्विक एवं शुद्ध बनाना, जिससे सकाम कर्म जिनसे जन्म, आयु भोग की प्राप्ति होती है नष्ट हो जाते हैं। बाह्य व्यवहार से राग द्वेष अभिनिवेश क्लेश 'तनु' हो जाते हैं।

(२) नियम—नियम से शरीर इन्द्रियाँ अन्तःकरण के राजसी-तामसी मल विक्षेप नष्ट होकर सात्विक-पवित्र हो जाते हैं।

(३) आसन—आसन के अभ्यास से शरीर की रज रूपी चंचलता, अस्थिरता, तम रूपी आलस्य, नष्ट होकर सात्विक प्रकाश-दिव्यता उत्पन्न होती है।

(४) प्राणायाम—प्राणायाम करने से मन का निरोध शीघ्र होता है तथा निरोग रह कर दीर्घायु प्राप्त होती है।

(५) प्रत्याहार—प्रत्याहार ने इन्द्रियों का आलस्य प्रमाद रूप तम हटता है।

(६) धारणा—धारणा चित्त के मूढ़ और क्षिप्ररूप तम रज को हटाकर सात्विक रूप में वृत्ति मात्र से किसी एक विषय में ठहराकर दिव्य करती है।

(७) ध्यान—चित्त के रज तम के वेगों को नाश करता है।

(८) समाधि—समाधि अवस्था में रज ध्येय से हटाकर ध्यातृ रूप में और तम उसके रोकने की स्थिति में विघ्न करते हैं। अतः शुद्ध सात्विक चित्त इन भावों से शून्य जैसा होकर केवल ध्येयाकार-सा होता है। इन आठ अंगों में पाँच बहिरंग, तीन अंतरंग साधन कहे जाते हैं।

आगे यमों को सूत्रकार वर्णन करते हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

सूत्रार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं।

व्याख्या—(१) मन वाणी शरीर से कभी किसी प्राणी मात्र को दुःख न देना अहिंसा है, एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि वृत्तियों से मानसिक पीड़ा देना या दिलवाना या सलाह देना या संकेत करना हिंसा है।

(२) सत्य—इन्द्रिय मन से प्रत्यक्ष देखा हुआ एवं अनुमान द्वारा अनुभव किया हुआ यथार्थ प्रिय और हितकर वचन सत्य है।

(३) अस्तेय—औरों का धन द्रव्य अधिकार अन्याय से हरण कर लेना, राजा का प्रजा के अधिकार छीनना एवं ऊँचे वर्ण वालों, धनाढ्यों को नीचे वर्ण वालों गरीबों के सामाजिक, धार्मिक अधिकार छीनना, रिश्वत लेना, दुकानदारों का कम तोलना, निश्चित कीमत से ज्यादा लेना, चीजों में मिलावट करना भी अस्तेय का भङ्ग करना है।

(४) ब्रह्मचर्य—मन वाणी शरीर से होने वाले सब मैथुनों का सब अवस्थाओं में सदैव त्याग कर वीर्य की रक्षा करना ही ब्रह्मचर्य है। इसका पालन तभी हो सकता है जब कामोद्दीपक पदार्थों का सेवन न करें, न ऐसे दृश्यों को देखें, न ऐसी बातों को सुनें, न ऐसी पुस्तकों को पढें, स्त्रियों का संग तथा स्त्री आसक्त मनुष्यों का संग छोड़ दें।

(५) अपरिग्रह—अपने स्वार्थ के लिये ममता से धन सम्पत्ति भोग सामग्री अथवा अन्य वस्तु संचय करना परिग्रह है। इससे दूर रहना या बचना अपरिग्रह है। योगी लोगों को अविद्या आदि क्लेश शरीर चित्त में ममत्व न रखना ही अपरिग्रह है।

यमों की ऊँची अवस्था को कहते हैं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा-
महाव्रतम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—जाति, देश, काल, समय में आबद्ध न होकर (इन यमों का पालन करना) महाव्रत है।

व्याख्या—पहिले सूत्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरि-ग्रह ये पाँच यम बताये हैं। इनको सब जगह, सबके साथ, सब समय, समान भाव से करने पर महाव्रत हो जाते हैं। जैसे किसी पुरुष ने प्रण किया कि मछली के अतिरिक्त किसी को न मारूंगा। यह जाति अवि-च्छिन्न अहिंसा है। तीर्थों में हिंसा नहीं करूँगा, यह देश अविच्छन्न अहिंसा है। किसी की प्रतिज्ञा है कि पूर्णिमा-अमावस्या को हिंसा न करूँगा, यह कालवच्छिन्न अहिंसा है। किसी ने प्रण किया कि विवाह के अवसर के सिवा अन्य हिंसा न करूँगा तो वह समयावच्छिन्न 'निमित्त से आबद्ध' अहिंसा है। इसी प्रकार शून्य यमों में समझना चाहिये। जैसे संकट के अतिरिक्त मिथ्या भाषण न करूँगा, दुष्काल के अतिरिक्त चोरी न करूँगा। ऋतुकाल से अन्य समय स्त्री प्रसंग न करूँगा, परिवार के परिपालन योग्य ही परिग्रह ग्रहण करूँगा।

इस प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाकर सभी जीवों के साथ सभी जगह सदा इनका पालन किया जाय तो सार्वभौम महाव्रत कहलाते हैं।

यमों को कहकर अब नियमों को बताते हैं।

शौचसंतोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि-नियमाः ॥३२॥

सूत्रार्थ—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणा-गति—ये पाँच नियम हैं।

व्याख्या—(१) शौच—पवित्रता भी दो प्रकार की है—शरीर शुद्धि और विचार शुद्धि। शरीर को मृत्तिका जल आदि से शुद्ध रखना, सात्विक भोजन करना, वस्ति, धोती, नेती आदि क्रियाओं से एवं औषधि आदि से स्वस्थ रहना। मृत्तिका, जल से पात्र, वस्त्र, स्थान को पवित्र रखना यह बाह्य शुद्धि है। विचार शुद्धि—ईर्ष्या, अभिमान, घृणा, असूया आदि मलों को (१।३१) मैत्री आदि से दूर करना। सत्य भाषण,

विद्याभ्यास, सत्संग, धर्माचरण एव सुखी मनुष्य के साथ मित्र भाव से ईर्ष्या नष्ट होती है। दुःखी मनुष्य के साथ दया करने से इच्छा रूप पाप मल दूर होता है। पुण्यात्मा पुरुषों से प्रसन्नता भाव करने से असूया का पाप मल दूर होता हैं। पापी मनुष्यों के साथ उपेक्षा (उदासीन) भाव करने से क्रोध मल चित्त से हटता है। इसको विचार शुद्धि कहते हैं।

(२) संतोष—अपने प्राण रक्षा मात्र आवश्यक वस्तुओं से अधिक इच्छा न करना एवं यदृच्छा मात्र से संतुष्ट रहना, जिस अवस्था स्थिति में हो, उसी में प्रसन्न चित्त रहना सन्तोष है। यह ही सुख की जड़ है। इससे विपरीत (असंतोष) दुःख की जड़ है।

(३) तप—जिस प्रकार सोना आदि धातु अग्नि में तपाने से शुद्ध दोष रहित हो जाता है, उसी प्रकार शरीर प्राण इन्द्रियाँ और मन को उचित रीति अभ्यास से वशीकार करके सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, सुख, दुःख, मान, अपमान आदि द्वन्द स्थिति में विक्षेप रहित होना तथा कृच्छ्र-चान्द्रायण व्रत एवं धर्माचरण ही तप है।

(४) स्वाध्याय-वेद शास्त्र उपनिषद् एवं अध्यात्म सम्बन्धी विवेक ज्ञान उत्पन्न करने वाले शास्त्रों का पठन-पाठन, मनन, शास्त्रों में लिखित निंदित कर्मों का त्याग करना, ॐकार अथवा गायत्री का जप करना आदि।

(५) ईश्वर शरणागति—मन वाणी कर्म से ईश्वर की भक्ति, नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन, मनन करके सब वृत्तियों को ईश्वर में अर्पण कर देना। देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मन, प्राण को एवं उनसे होने वाले कर्मों तथा उनके परिणामों को बाह्य और अन्तःकरण को ईश्वर के समर्पण करना।

यम नियमों के पालन में विघ्न दूर करने का उपाय बताते हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥३३॥

सूत्रार्थ :—जब वितर्क(यम और नियमों के विरोधी हिंसादि

भाव) यम नियम के पालन में बाधा पहुँचायें तब प्रतिपक्षी विचारों का (बारम्बार) चिंतन करना चाहिये।

व्याख्या—साधक को शुभ कर्म करते समय अनेक विघ्न "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" उपस्थित होते हैं। कुसंगति, अन्याय देखने से एवं सताने से या अन्य कारण से बदला लेने की भावना से बुरे भाव उत्पन्न होते हैं। मैं वैरी का नाश करूँगा, झूँठ बोलूँगा, इसका धन ले लूंगा, इसकी सुन्दरी स्त्री का हरण करूँगा इत्यादि, ऐसे पतित करने वाले भाव जैसे हिंसा, असत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य पालन न करना, परिग्रह, अशौच, असंतोष, तप का अभाव, स्वाध्याय का त्याग, ईश्वर से विमुखता आदि वितर्क हों और यम नियमादि त्याग करने की स्थिति उत्पन्न करके योग साधन में बाधा पहुँचावें तब उन वितर्क विरोधी विचारों का चिन्तन करके वितर्क रूप अधर्मों को मन से हटाना चाहिये। प्रतिपक्ष का तात्पर्य यह है कि क्रोध आने पर शान्ति चिंतन हिंसा का भाव होने पर दया भाव का चिंतन करना आदि। वितर्कों के स्वरूप उनके भेद फल के सहित प्रतिपक्ष भावना अगले सूत्र में कहते हैं।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष भावनम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—यम नियमों के विरोधी हिंसा आदि वितर्क हैं। वे स्वयं किये हुये, औरों से कराये हुये और समर्थन किये हुये होते हैं। उनका कारण लोभ, क्रोध, मोह होता है। ये मृदु, मध्य और तीव्र भेद वाले होते हैं, वे दुःख और अज्ञान का अनन्त (अपरिमित) फल देने वाले हैं। यह प्रतिपक्ष की भावना करना है।

व्याख्या—यम नियमों के विरोधी हिंसा आदि वितर्क हैं। उनके

अनन्त भेद हैं। सबका वर्णन विस्तार भय से न लिखकर हिंसा का भेद बताते हैं।

हिंसा तीन प्रकार की है—(१) स्वयं अपने शरीर से की हुई। (२) कारिता दूसरे के द्वारा कराई गयी। (३) अनुमोदिता—अनुमति दी जाय। कारणों के अनुसार इनके तीन भेद हैं—लोभ से की हुई माँस चमड़े आदि के। क्रोध से की हुई, इसने मेरा अपकार किया है इसको मैं भी मारूँ। मोह से की गई जैसे देवी पर बकरा चढ़ाने से स्वर्ग मिलेगा। इस प्रकार नौ प्रकार की हिंसा हुई। लोभ, क्रोध, मोह यह भी तीन प्रकार के हैं। मृदु, मात्रा, मध्य मात्रा, तीव्र मात्रा। इस तरह नौ प्रकार की हिंसा के सत्ताईस भेद हुये। उनके भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद अर्थात् मृदु में—मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-तीव्र ये तीन मध्य में मृदु-मध्य, मध्य-मध्य, मध्य-तीव्र आदि। इस तरह २७ भेदों से ८१ हुए। इसी हिंसा के भेदों के समान असत्य आदि के समझने चाहिये प्राणियों के भेद से असंख्य वितर्कों के भेद अनन्त अपरिमित अज्ञान दुःखदायी हैं। साधक को जब ऐसे वितर्क आवें तो विरोधी विचारों से दूर करना चाहिये, यथा हिंसा महा पाप है, हिंसा से नरक मिलता है, शूकर कूकर आदि योनियां प्राप्त होती हैं। अतः इनसे दूर रहकर दृढ़ता पूर्वक यम नियमों का पालन करना चाहिये। इन विचारों को करना प्रतिपक्ष की भावना है।

यम नियमों में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये उनके पालन का विभिन्न फल बतलाते हैं।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

सूत्रार्थ—अहिंसा की दृढ़ स्थिति होने पर उस (योगी) के निकट सब प्राणी बैर का त्याग कर देते हैं।

व्याख्या—जब साधक की अहिंसा पालन में दृढ़ अभिरुचि हो

जाती है अर्थात् अहिंसा सिद्ध हो जाती है, तब उसके पास बसने वाले हिंसक शेर आदि प्राणियों की भी अहिंसक वृत्ति हो जाती है। कोई शंका करे कि हिंसक जन्तुओं में वैर स्वाभाविक है, दूर नहीं हो सकता तो यह असंगत है, क्योंकि यदि स्वाभाविक गुण होता तो अपने स्त्री, संतान से क्यों राग प्रेम करते। अतः वैर स्वाभाविक नहीं। कण्व ऋषि के आश्रम में भरतजी शेरों से खेला करते थे—अन्य भी उदाहरण हैं।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥३६॥

सूत्रार्थ—सत्य की दृढ़ स्थिति होने पर क्रिया फल के आश्रय का भाव (आ जाता) है।

व्याख्या—जिस योगी को सत्य की सिद्धि हो जाती है, उसकी वाणी से कभी असत्य बात नहीं निकलती। उसकी वाणी अमोघ हो जाती है एवं उसकी वाणी द्वारा जो क्रिया होती है, उसमें फल का आश्रय होता है। उसकी वाणी से शाप वरदान आशीर्वाद जो निकलेंगे, सत्य होंगे एवं यज्ञादि शुभ कर्मों से जो फल मिलता है, वह फल उसकी वाणी से ही मिल जाता है। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में सत्यनिष्ठ योगी के ऐसी भावना धारण करने से कि असत्य वचन न निकालूँगा तब उसका अन्तःकरण इतना निर्मल हो जाता है कि उसकी वाणी से वही बात निकलती है जो क्रिया रूप में होनहार है।

अस्तेय की दृढ़ स्थिति का फल अगले सूत्र में कहते हैं।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥३७॥

सूत्रार्थ :—चोरी के पूर्णतया त्याग से (उस योगी के सामने) सब प्रकार के रत्न प्रकट हो जाते हैं।

व्याख्या—जब साधक चोरी का पूर्णतया त्याग कर देता है, तब उसको सब जगह वांछित रत्न, उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। स्तेय

(चोरी) से केवल किसी का धन चुराना ही नहीं बल्कि अनेक प्रकार की चोरी होती है। उनका मूल कारण लोभ तथा राग है। इसलिये योगी का किसी वस्तु में राग होना ही स्तेय समझना चाहिये।

अगले सूत्र में ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति का लाभ बताते हैं।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

सूत्रार्थ—ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति होने पर सामर्थ्य (वीर्य) का लाभ होता है।

व्याख्या—शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों को उन्नतिशील करने वाला केवल ब्रह्मचर्य पालन है एवं इसी के पूर्णतया पालन करने से योग मार्ग बिना रुकावट के सफल होता है। ब्रह्मचर्य पूर्णतया वही पालन कर सकता है जो वीर्य में विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों का भक्षण न करे एवं कामोद्दीपक दृश्यों को न देखे या इस प्रकार की बातों को न सुने, स्त्रियों से सम्पर्क न रखे, अनेक प्रकार के मैथुन जो इसी ग्रन्थ में अन्यत्र वर्णन किये हैं, उनका त्याग करे।

अपरिग्रह की स्थिरता का लाभ अगले सूत्र में कहते हैं।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥३९॥

सूत्रार्थ—अपरिग्रह की पूर्ण स्थिति होने पर अपने जन्मान्तरों का ज्ञान होता है।

व्याख्या—योगी के लिये महान् परिग्रह अविद्या आदि क्लेश शरीर चित्त में ममत्व अहंकार है। इनका त्याग ही अपरिग्रह है। इनके त्याग कर देने पर उसका चित्त यथार्थ ज्ञान का ज्ञाता हो जाता है और उसको अपने पूर्वापर जन्मों की सब बातों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। मैं पहले जन्म में कौन था, मैंने क्या-क्या काम किये, किस प्रकार रहा, किस कर्म के अनुसार मुझे यह योनि प्राप्त हुई, यह सब बातें स्मरण

हो जाती हैं, जिनसे वैराग्य की वृद्धि होती है और संसार के आवागमन से छुटकारा पाने के लिये योग साधन में सहायक होती हैं ।

यहाँ तक यमों की सिद्धि का फल बताया । अब नियमों के पालन का फल बताते हैं ।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।।४०।।

सूत्रार्थ—शौच से अपने अङ्गों से घृणा, दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा होती है ।

व्याख्या—जब शौच (पवित्रता) में आस्था हो जाती है और शौच करने पर योगी अपने शरीर के अवयवों में मलीनता का भान करता है अर्थात् शरीर के अवयव बाहर भीतर मलों से दूषित हैं, अपवित्र हैं, शुद्ध नहीं हैं ऐसा ज्ञान होता है तब अपने शरीर में आसक्ति नहीं रहती । इसी तरह दूसरे सांसारिक मनुष्यों के साथ संसर्ग करने की इच्छा नहीं रहती । दूसरे से अपने शरीर मिलाने में संकोच व घृणा करता है और एकान्त प्रिय हो जाता है । यह बाह्य शौच का फल है । भीतर की शुद्धि का फल कहते हैं ।

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियेजयात्म दर्शन योग्यत्वानि च ।।४१।।

सूत्रार्थ—चित्त की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों का जीतना, आत्म साक्षात्कार की योग्यता—ये पांचों आभ्यन्तर शौच की सिद्धि से प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या—आभ्यन्तर शौच की दृढ़ स्थिति मैत्री, करुणा आदि भावों से या जप-तप से अथवा अभ्यास-वैराग्य से जब हो जाती है तब तमोगुण, रजोगुण के आवरण धुल जाने से चित्त निर्मल हो जाता है । राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि मलों का अभाव होकर शुद्ध सत्त्व गुण रूप

अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब मन प्रसन्न होता है, उसके बाद चित्त एकाग्र होता है, चित्त की एकाग्रता से योगी इन्द्रियों को जीतता है। इन्द्रियों के जीतने पर चित्त में विवेक ख्याति रूपी आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त हो जाती है। इसी को आभ्यन्तर शुचि कहते हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त सूत्र में बाह्य शुद्धि इसमें आभ्यान्तर शुद्धि बताई गई। अब सन्तोष ने क्या लाभ होता है ? उसको बताते हैं।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥४२॥

सूत्रार्थ—सन्तोष से जिससे उत्तम दूसरा सुख कोई नहीं है, ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है।

व्याख्या—सन्तोष में जब पूर्ण अवस्था हो जाती है अर्थात् सत्व के प्रकाश में चित्त की प्रसन्नता होती है और तृष्णा का नाश हो जाता है तब महान सुख की प्राप्ति होती है (सन्तोष परम सुखम्) अर्थात् सन्तोष रूपी महान सुख है। जो काम आदि बड़े-बड़े सुख एवं स्वर्ग-सुख हैं, वे तृष्णा-नाश के सुख के सोलहवें भाग के समान भी नहीं हैं। मन में प्रमादवश अकर्मण्यता सन्तोष नहीं है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस ॥४३॥

सूत्रार्थ—तप के प्रभाव से जब अशुद्धि नष्ट हो जाती है तब शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती हैं।

व्याख्या—तप का वर्णन साधनपाद के पहिले सूत्र में हो चुका है—अब संक्षिप्त रूप से कहते हैं। जिस प्रकार धातुओं को अग्नि में बारम्बार तपाने से उनका मल दूर हो जाता है, इसी प्रकार तप के निरन्तर अभ्यास से साधक का शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और लघु हो जाता है और उसे शरीर सम्बन्धी अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं (३-४४।४५) और इन्द्रियाँ दिव्य-दर्शन, दिव्य-श्रवण, दूर-श्रवण

(३।४८) आदि सिद्धियों को प्राप्त हो जाती हैं। सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं—शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति, दान, आध्यात्मिक दुःखहान, आधिभौतिक दुःखहान, आधिदैविक दुःखहान आदि। इनके प्राप्त होने पर सूक्ष्म, दूर देश में, व्यवधान युक्त स्थान में स्थित विषयों का देखना, सुनना आदि इन्द्रिय सम्बन्धी सिद्धियाँ होती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥४४॥

सूत्रार्थ—स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।

व्याख्या—वेदादि स्वाध्याय से इच्छित देवता एवं तत्वज्ञानी महात्माओं का सत्सङ्ग होता है। देवता का अर्थ दिव्य गुणवान् विद्वान भी है अर्थात् ऋषि, सिद्ध आदि। अथवा योगी को व्यवहार सिद्धि के वास्ते वसु आदि ३३ देवताओं, सूर्यादिक का प्रकाश व वृष्टि के लिए दर्शन होता है। अथवा इष्ट देवता से परमात्मा का आशय ग्रहण कर सकते हैं। स्वाध्याय तथा प्रणव ॐ के जप आदि से परमात्मा के साथ संयोग होता है। फिर उसकी सहायता से मुक्ति पद प्राप्त होता है। अथवा स्वाध्याय से उपास्य के जिन गुणों को एवं यन्त्र मन्त्र को धारणा की जाती है तो ध्यान की पूर्ण अवस्था प्राप्त होने पर रजोगुण, तमोगुण शून्य हुआ चित्त सात्विकता के प्रकाश में इष्ट आकार में स्थित हो जाता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

सूत्रार्थ—ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है।

व्याख्या—ईश्वर प्रणिधान का (२।१) में वर्णन कर चुके हैं। मन, वाणी, कर्म से ईश्वर की भक्ति, नाम, रूप, लीला, श्रवण, कीर्तन मनन द्वारा, देह इन्द्रियाँ अतःकरण मन प्राण को एवं उनसे होने वाले कर्मों को तथा उनसे होने वाले परिणामों को ईश्वर के समर्पण

कर देने से विघ्न दूर हो जाते हैं। समाधि शीघ्र सिद्ध होती है। इसमें यह तर्क ठीक नहीं कि ईश्वर प्रणिधान से ही समाधि सिद्ध होती है तब योग के अन्य सात साधनों की क्या आवश्यकता है ? अतः यहां परस्परालङ्कार है। योग के अन्य सात अंगों के बिना ईश्वर प्रणिधान की स्थिति नहीं होती है, अतः दोनों ही साधनों से निर्विघ्नता पूर्वक समाधि होती है। समाधि सिद्धि होने पर योगी देशान्तर और कालान्तर में भवितव्य पदार्थों का ज्ञान करने वाला होता है।

अब आगे के सूत्र में आसन का लक्षण बताते हैं।

स्थिरसुखमासनम् ॥४६॥

सूत्रार्थ—स्थिर (निश्चल-हलन चलन से रहित) सुख-पूर्वक बैठने का नाम आसन है।

व्याख्या—स्थिरतापूर्वक बिना हिले-डुले सुख के साथ किसी प्रकार की पीड़ा न हो, बहुत समय तक बैठ सकें, वही आसन उपयुक्त है। वैसे बहुत से आसनों के नाम, विधि हैं जैसे स्वास्तिकासन, सिद्धासन, समासन, पद्मासन, बद्ध पद्मासन, वीरासन, गोमुखासन, बज्रासन आदि। परन्तु सूत्रकार ने बैठने का आसन साधक की इच्छा पर छोड़ दिया है। वही आसन ठीक है जिससे शरीर स्वस्थ, हल्का, योग साधन के योग्य बनने में सहायता प्राप्त हो। अधिकतर पद्मासन उपयुक्त होता है। विधि—चौकड़ी लगाने में दाहिने पैर को बायें रान की मूल में और बायें पैर को दाहिने रान की मूल में जमाकर रखने से पद्मासन बनता है। आसन के समय गर्दन सिर कमर को एक रेखा में सीधा रखना चाहिये।

साधक को आसन सिद्धि तब समझनी चाहिये जब तीन घण्टे ३६ मिनट बिना हिले डुले सुख से बैठ सके। उसका सरल उपाय यह है कि अभ्यास के लिये एकान्त स्थान कोठरी कमरा या निर्जन जंगल हो जहाँ

किसी प्रकार का उपद्रव न हो। धूप, दीप से उस स्थान को सुगंधित करना चाहिये। अभ्यास में बैठने से तीन घण्टे पूर्व कुछ भी भोजन न करना चाहिये। बैठने की चौकी के ऊपर कुशासन और उस पर ऊन का आसन या रेशमी वस्त्र हो। मृग चर्म आदि का उपयोग न किया जाये।

अभ्यास के प्रारम्भ करने से पूर्व वस्ति, धोती आदि क्रियाओं से शरीर शुद्ध करना चाहिये ताकि मल मूत्र के वेग न होवें। मूलबन्ध और उड्डयान-बन्ध लगाकर (गुदा एवं लिंग स्थान के छिद्रों को बन्द कर) पद्मासन से अभ्यास करना चाहिये। कुछ दिनों के अभ्यास के पश्चात् आसन स्वयं उठने लगता है। आसन का उठना शारीरिक क्रिया है। इससे अध्यात्म विषय का सम्बन्ध नहीं हैं। वास्तविक समाधि तीव्र वैराग्य से ही ध्यान द्वारा वृत्तियों के निरोधपूर्वक होती है जैसा कि अन्यत्र वर्णन किया है।

प्रयत्न शैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥४७॥

सूत्रार्थ—प्रयत्न की शिथिलता और परमात्मा में मन लगाने से आसन सिद्धि होती है।

व्याख्या—शरीर की स्वाभाविक चेष्टा(अंग मेजयत्व)अर्थात् शरीर का डावांडोल होना, काँपना, उससे उपरत होना प्रयत्न की शिथिलता है अर्थात् शरीर को सीधा स्थिर करके सुख पूर्वक साधन की दृढ़ता से शरीर सम्बन्धी सब चेष्टाओं को छोड़ कर अनन्त परमेश्वर में तद्रूपता हो जाने से, आसन सिद्ध होता है। फिर साधक अपने को भूला हुआ जैसा समझकर बहुत समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता है। सूत्र में 'आनन्त समापत्ति' से यह तात्पर्य है कि चित्त वृत्ति रूप से हर समय अनेक परिच्छन्न पदार्थों की ओर घूमता रहता है, उनकी परिच्छिन्नता में अस्थिर रहता है। अपरिच्छन्न आकाशादि में जो अनन्तता है उसमें चित्त

को तदाकार करने से चित्त निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है। तब ही आसन सिद्ध होता है।

ततो द्वन्द्वानभिघात ॥४८॥

सूत्रार्थ—आसन सिद्धि होने पर द्वन्द्वों (शीत-उष्ण आदि) का आघात नहीं लगता।

व्याख्या—जब आसन की पूर्वोक्त प्रकार से पूर्ण सिद्धि हो जाती हैं तब सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास नहीं सताते हैं और शरीर में सहन शक्ति होने से ध्यान समाधि में विक्षेप नहीं होता है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम ॥४९॥

सूत्रार्थ—आसन के स्थिर होने पर श्वांस-प्रश्वांस की गति को रोकना प्राणायाम है।

व्याख्या—बाहर की वायु को नासिका से खींचना श्वांस है तथा कोष्ठ स्थित वायु को नासिका से बाहर निकालना प्रश्वांस है। श्वांस-प्रश्वांस की गतियों का प्रवाह रेचक-पूरक-कुम्भक द्वारा बाह्य-भीतर दोनों स्थानों में रोकना ही प्राणायाम है। प्राणायाम तीन प्रकार का है। बाह्य वृत्ति (रेचक), आभ्यन्तर वृत्ति (पूरक), स्तम्भ वृत्ति(कुम्भक) यह प्राणायाम आसन सिद्धि के बाद सम्पन्न होता है। अतः बिना आसन सिद्धि किये प्राणायाम करना उचित नहीं। प्राणायाम का अभ्यास उसी समय ठीक होगा जब आसन सिद्धि हो जावे।

प्राणायाम के भेदों को बताते हैं।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परि-दृष्टो दीर्घसूक्ष्म ॥५०॥

सूत्रार्थ—(प्राणायाम) बाह्य वृत्ति, आभ्यान्तर वृत्ति और स्तम्भ वृत्ति—(ऐसे तीन प्रकार) का होता है तथा वह देशकाल संख्या से देखा हुआ लम्बा और हल्का हो जाता है।

व्याख्या—इस सूत्र में प्राणायाम के ३ भेदों को कहा है। वह इस प्रकार है कि श्वांस को बाहर निकालकर उसको बाहर ही जितने समय तक सुख से रुक सके रोके रहना और यह भी ध्यान रखना कि बाहर आकर कहां ठहरा है और कितने समय तक ठहरा है और उतने समय में स्वाभाविक प्राण की गति की कितनी संख्या होती है। यह बाह्य वृत्ति रेचक प्राणायाम है, इसमें वायु को रेचन पूर्वक रोका जाता है। यह देश, काल, संख्या से परीक्षा करते समय प्राणायाम जैसे-जैसे उन्नत होता जाता है वह लम्बाई (बहुत देर तक रुकने वाला) और सूक्ष्म (हल्का) होता है अर्थात् परिश्रम कम होता जाता है। जैसे रेचक प्राणायाम प्रथम आरम्भ किया तो जांच करने के लिये नासिका से कुछ दूरी पर रुई रखकर यह देखो कि रुई श्वास से हिलती है और कितने अंगुल नासिका से दूर रुई है। रुई और नासिका छिद्र के अन्तर से लम्बाई मालूम होती है। कुछ दिनों के अभ्यास से और ज्यादा दूर पर रुई रखकर देखने से अधिक दूरी पर रुई हिलने से लम्बाई मालूम होती है। इस प्रकार जब बारह अंगुल रेचक स्थिर हो जाय तो उसकी दीर्घ सूक्ष्म संज्ञा जाननी चाहिये।

जिस प्रकार रेचक प्राणायाम में श्वांस की लम्बाई बाहर बढ़ती जाती है, उसी प्रकार पूरक प्राणायाम में भीतर बढ़ती जाती है। अभ्यास करते-करते प्राण वायु नाभि तथा पैर तले तक, ऊपर मस्तक तक पहुँच जाती है। नाभि तक पहुँचने की स्थिति को दीर्घ सूक्ष्म कहते हैं। यह परीक्षा रेचक-पूरक की है। कुम्भक में वायु न बाहर निकलती है न भीतर जाती है। यह देश—परिद्रष्ट देश द्वारा परीक्षा हुई।

इसी प्रकार रेचक-पूरक-कुम्भक प्राणायाम की काल (समय) द्वारा परीक्षा की जाती है। प्रारम्भ में जितने समय तक प्राणायाम होता है धीरे-धीरे ज्यादा समय तक रुकने वाला होता जाता है। बढ़ते-बढ़ते जब ३६ मात्राओं पर्यन्त श्वाँस प्रश्वांस की गति का अभाव हो वह दीर्घ

सूक्ष्म संज्ञा वाला होता है। एक मात्रा का समय हाथ को जंघा के चारों ओर घुमाकर चुटकी बजाने में जितना समय होता है। यह काल परीक्षा है। इसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा कई मामूली स्वाभाविक श्वांस-प्रश्वांस का एक-एक श्वांस होता है। जब अभ्यास से १२ श्वांस-प्रश्वां-का एक श्वाँस हो जावे तब प्राणायाम दीर्घ-सूक्ष्म संज्ञा वाला होता है।

२४ श्वांस-प्रश्वांस का एक श्वांस होने तक "प्रथम उद्‌घात मृदु दीर्घ सूक्ष्म" कहलाता है। ३६ स्वाभाविक श्वांस प्रश्वांस का एक श्वांस होने तक "द्वितीय उद्‌घात मध्य दीर्घ सूक्ष्म" कहलाता है। ६४ श्वांस तक 'तृतीय उद्‌घात तृतीय दीर्घ सूक्ष्म" कहलाता है। उद्‌घात—का अर्थ प्राण वायु का सिर नाभि में टक्कर खाना है। यह श्वांस-प्रश्वांस की संख्या द्वारा परीक्षा है।

अभ्यास करते-करते शनैः शनैः बढ़ता जाता है। श्वांस की संख्या का यह नियम है कि स्वस्थ मनुष्य एक मिनट में १५ बार श्वाँस लेता है। वायु के अन्दर जाने की स्थिति को "श्वांस" एवं भीतर रुकने की स्थिति को "विराम", "बाहर" निकलते की स्थिति को "प्रश्वांस" एवं बाहर रुकने की स्थिति को "विराम" कहते हैं। इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा शरीर को प्राण-वायु का वशीकार हो जाता है और शरीर स्वस्थ, दीर्घ आयु, कुंडलिनी जाग्रत होती है।

बाह्य-वृत्ति वाले रेचक को जिस प्रकार बता चुके हैं, उसी प्रकार आभ्यन्तर वृत्ति पूरक को बताते हैं। प्राण वायु को भीतर ले जाकर जितने समय तक सुख से रुके रोके रहना और यह भी मालूम करना कि अन्दर कहाँ तक प्राण वायु रुकता है, कितने समय तक ठहरता है और उतने समय में मामूली श्वांस कितनी बार चलती है। यह आभ्यन्तर पूरक प्राणायाम है।

बिना रेचक-पूरक के अर्थात् प्राण वायु स्वभाव से बाहर निकला हो या भीतर गया हो, जहाँ हो वहीं उसकी गति को रोक दिया जाता

है और यह देखना कि प्राण किस देश में रुके हैं हृदय की धड़कन, हाथ की नाड़ी से मालूम होता है। प्राण कितने समय तक रुके हैं? स्वाभाविक गति की संख्या कितनी है? इस तरह देश-काल संख्या के परिणाम से दीर्घ सूक्ष्म जानना चाहिये। यह स्तम्भ वृत्ति वाला कुंभक प्राणायाम है। अभ्यास करते समय तीनों को—रेचक-पूरक-कुंभक को प्रणव रूप जानकर प्रणव उपासना की भावना ॐ या गायत्री का जप करना चाहिये।

किसी-किसी शास्त्रकार ने कुंभक के आठ भेद वर्णन किये हैं। उनके नाम—(१) सहित, (२) सूर्य भेदी, (३) उज्जायी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्छा, (८) केवली हैं।

प्राणायाम का अभ्यास बहुत सावधानी से करना चाहिये। अनुभवी गुरु से एवं शास्त्रों द्वारा इसकी पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के बाद ही प्रारम्भ किया जावे तो सुगमता से सिद्ध होता है।

प्रथम आसन सिद्धि की क्रिया करने के बाद खेचरी मुद्रा से नेत्र बन्द करके एवं सिर गर्दन मेरुदंड सीधे रहें तथा शरीर शिथिल रहे—प्राणायाम करना चाहिये। आरम्भ में सीधे नाक के छिद्र को सीधे हाथ के अँगूठे से दबा कर पूरक करते हैं। कुंभक करने पर सीधे हाथ की अनामिका और कनिष्टका अंगुलियों से नासिका के बांयें छिद्र को दबाकर प्राण वायु को भीतर रोकते हैं। सीधे नाक के छिद्र से रेचक करते समय बाँयें छिद्र को बन्द किये रहते हैं। शनैः शनैः अभ्यास करने पर अँगुलियों की सहायता के बिना भी रेचक-पूरक-कुंभक करते हैं।

चौथे प्राणायाम को कहते हैं।

वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ ॥५१॥

सूत्रार्थ—बाहर और भीतर के विषयों को त्याग देने से स्वतः होने वाला चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या—पूर्व सूत्र में तीन प्राणायाम वर्णन किये हैं, उनसे यह भिन्न चौथा प्राणायाम है। इसमें अन्तर इतना ही है कि पूर्वोक्त रेचक, पूरक, कुंभक प्राणायामों में देश काल संख्या से परिदृष्ट बाह्य विषय, आभ्यन्तर विषय हैं। इस जानकारी को त्याग कर मन को इष्ट चिंतन में लगा देने से देश-काल संख्या के ज्ञान के बिना ही स्वतः प्राण की गति जिस किसी देश में रुक जाती है, वही यह चौथा प्राणायाम है। यह अनायास होने वाला राजयोग प्राणायाम है। इसमें मन की चंचलता न होने से अपने आप प्राणों की गति रुक जाती है। पहिले प्राणायामों में प्रयत्न द्वारा अभ्यास करते-करते प्राणों की गति रुकती है।

(२) रेचक में कोष्ठस्थित वायु को बाहर निकाल कर रोक दिया जाता है।

(२) पूरक में श्वांस को अन्दर खींचकर अन्दर रोक दिया जाता है।

(३) श्वांस-प्रश्वांस की गति का अभाव कुंभक है।

बाहर भीतर कुंभक के बिना ही रेचक-पूरक द्वारा देश-काल संख्या के ज्ञान के बिना स्वयं ही श्वांस-प्रश्वांस की गति के निरोध से यह प्राणायाम होता है।

सरल उपाय यह है कि पहिले रेचक द्वारा प्रश्वांस को जहाँ तक जा सके बाहर ले जायें। पुनः श्वांस को बिना रोके पूरक द्वारा अन्दर ले जायें। इसी प्रकार अभ्यास करते-करते कुंभक के बिना स्वयं दीर्घ-सूक्ष्म होकर श्वाँस प्रश्वांस की गतियों का अभाव हो जाता है। साथ-साथ ओंकार या गायत्री मन्त्र का मानसिक जप अवश्य करते रहना चाहिये।

गुदा एवं लिंग के छिद्रों को बायें पैर की एड़ी से बन्द करने को मूल बंध कहते हैं तथा दोनों जंघाओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को

आपस में मिलाकर पेट को रीढ़ की हड्डी से चिपटा देने को उड्डियान-बन्ध कहते हैं । इस प्राणायाम क्रिया को मूल-बन्ध उड्डियान-बन्ध लगाकर प्रारम्भ करना चाहिये क्योंकि इनसे प्राणायाम करने में प्राण वायु को ऊपर ले जाने में सहायता मिलती है अर्थात् अपान वायु ऊपर प्राण वायु से आसानी से मिल जाती है । यद्यपि प्राणायाम अनेक प्रकार के हैं परन्तु राजयोग में उपरोक्त प्राणायाम निर्बीज समाधि में मन के उद्वेग शान्त करने में अति उत्तम है ।

अब प्राणायाम का फल कहते हैं ।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥

सूत्रार्थ—प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान का आवरण(विवेक ज्ञान का पर्दा) नाश हो जाता है ।

व्याख्या—प्राणायाम का अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता जाता हैं वैसे ही वैसे मनुष्य के संचित कर्मों के संस्कार, अविद्या जनित क्लेश जो कि ज्ञान के आवरण रूप हैं, दुर्बल होते जाते हैं । इसी आवरण से ज्ञान ढका रहने के कारण सांसारिक विषय वासनाओं से पीड़ित मनुष्य दुःखों को भोगता रहता है । अतः यह संचित कर्मों का पर्दा प्राणायाम के अभ्यास से शनैः शनैः क्षीण हो जाता है, तब विवेक ज्ञान रूपी प्रकाश का उदय हो जाता है जैसे तपाये हुये सोने के सभी मल नष्ट हो जाते हैं ।

प्राणायाम करने का अन्य फल भी अगले सूत्र में कहते हैं ।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥५३॥

सूत्रार्थ—धारणा में मन की योग्यता होती है ।

व्याख्या—प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से मन की चंचलता

नष्ट हो जाती है और उसमें धारणा (जिसका वर्णन अगले पाद में करेंगे) की योग्यता आ जाती है ।

अब प्रत्याहार के लक्षण अगले सूत्र में कहते हैं ।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।।५४।।

सूत्रार्थ—**अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाता है, वह प्रत्याहार है।**

व्याख्या—पहिले बताये हुये साधक, यम, नियम, प्राणायाम की क्रिया से चित्त बाह्य विषयों से विरक्त होकर समाहित होता है और इन्द्रियां भी अन्तर्मुख होकर उसी के समान काम करने लगती हैं तथा चित्त की चंचलता नष्ट होने पर अर्थात् निरोध होने पर इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती है । इसी को प्रत्याहार कहते हैं अर्थात् इन्द्रियों का विषयों से विमुख होना । जिस प्रकार मनुष्य की छाया मनुष्य के चलने पर चलती है, बैठने पर बैठ जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त के आधीन होकर काम करने लगती है । यही प्रत्याहार है । इस अवस्था में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख होकर आत्मतत्व के अभिमुख होता है पर इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषयों से विमुख होती हैं । चित्त के समान आत्म तत्व के अभिमुख नहीं होती । इसलिये सूत्र में 'अनुकार इवेन्द्रियाणां जैसा कहा है । कठोपनिषद् में कहा है स्वयम्भू ने इन्द्रियों के छेदों को बाहर की ओर छेदा है अर्थात् इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है । इस कारण मनुष्य बाहर देखता है अपने अन्दर नहीं देखता । कोई विरला धीर ही अमृत को चाहता हुआ इन्द्रियों को बन्द करके प्रत्याहार द्वारा अन्तरात्मा को देखता है ।

अगले सूत्र में प्रत्याहार का फल कहते हैं ।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५५॥

सूत्रार्थ—प्रत्याहार होने से इन्द्रियों की परम वश्यता हो जाती है।

व्याख्या—इन्द्रियों का अपने विषयों से रहित हो जाना ही इन्द्रियों को जीतना है। यह तभी सम्भव है जब चित्त एकाग्र हो जाता है और चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियों का भी निरोध हो जाता है। यही इन्द्रियों की परम वश्यता है। प्रत्याहार सिद्धि होने पर योगी को इन्द्रिय जय स्वतः हो जाती है। उसके लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती है।

॥ इति पातञ्जल योग-दर्शन साधनपाद समाप्त ॥

विभूतपाद- ३

[समाधिपाद में उत्तम साधकों के लिये (जिनके उत्तम संस्कार हैं) योग का स्वरूप बताया। साधनपाद में मध्यम साधकों को योग के बहिरंग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार वर्णन किये। अब तीसरे विभूतिपाद में अन्तरंग धारणा, ध्यान, समाधि का वर्णन करते हैं, इसी को संयम कहते हैं अर्थात् "धारणा, ध्यान, समाधि," इन तीनों को एक ध्येय में लगाना संयम है। योग की विभूतियाँ संयम से ही प्राप्त होती हैं]

अब धारणा बताते हैं।

देशबंधश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

सूत्रार्थ—चित्त को वृत्ति मात्र से किसी एक देश में ठहराने को (बाहर या शरीर के अन्दर कहीं भी) धारणा कहते हैं।

व्याख्या—देशबन्ध से यह तात्पर्य है कि चित्त वृत्ति को शरीर के किसी स्थान नाभि-चक्र, हृदय-कमल, नासिका का अग्र भाग, भृकुटी, जिह्वा का अग्र भाग आदि स्थानों में अथवा सूर्य, चन्द्र, ध्रुव आदि में अथवा कोई देवता मूर्ति एवं कोई भी बाहर के पदार्थ में अन्य सभी विषयों से हटाकर एक ही ध्येय विषय पर वृत्ति मात्र से ठहराया जाय। अर्थात् पूर्वोक्त साधन, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार से चित्त की चंचलता रोककर उसे शरीर अथवा बाहर के पदार्थ में ऐसा बांधना जिससे एकाग्र होकर उसी देश मात्र में रहे दूसरी जगह न जाय।

तब चित्त वृत्ति ध्येय के विषय के समान रूप होकर स्थिर रूप से उसके स्वरूप को प्रकाश करने लगती है।

अब ध्यान का वर्णन करते हैं।

तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

सूत्रार्थ—जहाँ चित्त को ठहराया जाय, उसी में वृत्ति का एक सा बना रहना ध्यान है।

व्याख्या—धारणा के बाद ध्यान करना है अर्थात् धारणा से जिस देश-विशेष में चित्त लगाया है, उसी ध्येय में जिसका ध्यान करना है चित्त वृत्ति समान प्रवाह से निरन्तर लगी रहे, दूसरी अन्य कोई वृत्ति बीच में न आवे, वही ध्यान है। अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ ध्येय में ऐसी तन्मय हो जावें जैसे भौंरा कमल पुष्प में तन्मय होकर बेसुध हो जाता है और सूर्यास्त में कमल का मुख बन्द होने पर स्वयं बन्द हो जाता है।

समाधि का रूप बताते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

सूत्रार्थ—केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है, चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाता है, वही (ध्यान ही) समाधि कहलाता है।

व्याख्या—धातृ माने ध्यान का करने वाला। ध्यान का विषय ध्येय जिसका ध्यान किया जाय। ध्यान, चित्त की वह वृत्ति है जिसके द्वारा विषय का ध्यान होता है। साधक जब ध्यान करता है तब उसको यह बोध रहता है कि मैं ध्येय का ध्यान करता हूँ अर्थात् धातृ, ध्येय, ध्यान तीनों अलग-अलग भान होते हैं। किन्तु ध्यान करते-करते धातृ "चित्त" ध्येय रूप में परिणत हो जाता है। अपने रूप का

अभाव-सा हो जाता है और यह भान नहीं रहता कि में ध्यान कर रहा हूं। ध्यान की अवस्था में केवल ध्येय विषय के स्वरूप का ही भान होता है। तब उस ध्यान को ही समाधि कहते हैं। समाधि अवस्था में केवल ध्येय मात्र ही भासित होता है। इसको संप्रज्ञात योग अथवा सबीज समाधि जानना चाहिये, क्योंकि इसमें संसार का बीज विषय ध्येयाकार वृत्ति रूप से मौजूद रहता है। जब ध्येयाकार वृत्ति भी न रहे तब उसको असम्प्रज्ञात योग एवं निर्बीज समाधि कहते हैं।

अब संयम कहते हैं।

त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥

सूत्रार्थ—(धारणा, ध्यान, समाधि) तीनों का एक विषय में होना संयम है।

व्याख्या—धारणा, ध्यान, समाधि—इन तीनों का समुदाय एक ही विषय में होने से योग शास्त्र के प्रवर्तक उसको संयम कहते हैं। यह संयम इसलिये कहा जाता है कि इन तीनों के सिद्ध होने से अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन होगा। अतः प्रत्येक में बारम्बार धारणा, ध्यान, समाधि लिखने से विस्तार ज्यादा होगा, इसलिये तीनों की संयम संज्ञा करने से तीनों का ही बोध होगा क्योंकि समाधि के ही अंग धारणा, ध्यान हैं, समाधि अंगी है, तीनों का समुदाय संयम है।

संयम के अभ्यास का फल बताते हैं।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥५॥

सूत्रार्थ—उस "संयम" के जीतने से समाधि प्रज्ञा (समाधि ज्ञान) प्रकाश होता है।

व्याख्या—जब योगी पूर्वोक्त साधनों से चित्त की ऐसी स्थिति कर लेता है कि चित्त को जिस विषय में संयम करना चाहे उसी में संयम

हो जाय, तब बुद्धि में अलौकिक ज्ञान शक्ति प्रकाशित होती है। तभी अनेक प्रकार की विभूतियाँ सिद्ध होने लगती हैं। अन्त में विवेक ख्याति (कैवल्य) की प्राप्ति होती है, इसी को पहले पाद में ऋतम्भरा प्रज्ञा नाम से वर्णन किया है। संयम जैसे-जैसे दृढ़ होता जाता है वैसे-वैसे समाधि प्रज्ञा और भी उज्ज्वल होती जाती है, अन्त में विवेक-ख्याति की स्थिति होती है।

संयम की प्रयोग विधि कहते हैं।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥६॥

सूत्रार्थ —उस संयम का (क्रम से) भूमियों में(चित्त भूमियों में) विनियोग करना चाहिये अर्थात् लगाना चाहिये।

व्याख्या—योगी को प्रथम चित्त की स्थूल वृत्ति वाली भूमि में संयम करना चाहिये। जब उसको जीत लिया जाय तो सूक्ष्म वृत्ति वाली चित्त की भूमि में संयम करना चाहिये। अर्थात् जैसी-जैसी चित्त की वृत्ति होवे—वितर्क अनुगत, इसके बाद विचारानुगत-फिर आनन्दानुगत, फिर आस्मितानुगत उसी स्थिति में संयम करना चाहिये। इस तरह पहिली भूमि को जीतकर आगे संयम करना चाहिये तभी विवेक ज्ञान रूपी फल की प्राप्ति होती है। नीची भूमि को जीते बिना ऊँची भूमि में संयम करने से ज्ञान रूपी फल नहीं मिलता।

संयम ही चित्त के वशीकार एवं आत्मोन्नति का कारण है। वास्तव में धारणा, ध्यान, समाधि संयम के अंग हैं। चित्त को किसी देश में ठहराने को धारणा कहते हैं। चित्त देर तक ठहरा रहे तो वही ध्यान है। जब चित्त को धाता ध्येय का ज्ञान न रहे वही समाधि है। सूत्र में विनियोग का अर्थ लगाना है।

धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरंग साधन हैं। यह आगे के सूत्र में बताते हैं।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥७॥

सूत्रार्थ—पहिलों की अपेक्षा तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) अन्तरङ्ग हैं।

व्याख्या—प्रथम पाद में वर्णन किये गये जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार हैं, ये पाँचों बहिरङ्ग साधन हैं। यद्यपि ये पाँचों चित्त को निर्मल बनाकर सम्प्रज्ञात समाधि योग स्थिति बताते हैं परन्तु इनकी अपेक्षा धारणा, ध्यान, समाधि ये अन्तरङ्ग साधन संप्रज्ञात समाधि के ही अङ्ग हैं अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति और संयम की स्थिति समान होने से विशेष निकट हैं तथा निर्बीज समाधि के धारणा, ध्यान, समाधि बहिरङ्ग हैं। यह अगले सूत्र में बताते हैं।

तदपि बहिरंग निर्बीजस्य ॥८॥

सूत्रार्थ—वह (धारणा, ध्यान, समाधि) भी निर्बीज समाधि के बहिरंग साधन हैं।

व्याख्या—जैसे पूर्वोक्त यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं, उसी प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि असम्प्रज्ञात समाधि (निर्बीज समाधि) के बहिरंग साधन हैं, क्योंकि उसमें सब प्रकार की वृत्तियों का अभाव रहता है। इन तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) की भी अपेक्षा नहीं रहती अर्थात् किसी भी ध्येय में चित्त को स्थिर करने का अभ्यास नहीं किया जाता। इसका अन्तरंग 'पर-वैराग्य' है जो निर्बीज समाधि के समान निरालम्ब निर्विषय है। उसके दृढ़ होने पर असंप्रज्ञात योग अवश्य प्राप्त होता है।

गुणों का चंचल स्वभाव है उनमें हर समय परिणाम होता रहता है। गुणों का ही कार्य होने के कारण चित्त भी स्थिर नहीं रह

सकता । अतः निरोध समाधि के समय उसका कैसा परिणाम होता है ? यह बताते हैं ।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

सूत्रार्थ—व्युत्थान अवस्था में संस्कारों का दब जाना तथा निरोध अवस्था में संस्कारों का प्रकट हो जाना यह जो निरोध समय में चित्त का दोनों संस्कार में अनुगत होना है, वह निरोध परिणाम है ।

व्याख्या—निरोध का अर्थ सब वृत्तियों का रुक जाना अर्थात् "पर-वैराग्य" संस्कार है । परिणाम तीनों गुणों से उत्पन्न सब द्रव्यों में तीन प्रकार के होते हैं ।

१—धर्म परिणाम, २—लक्षण परिणाम, ३—अवस्था परिणाम । जिस द्रव्य में यह परिणाम होते हैं, उनको धर्मी तथा परिणाम को धर्म कहते हैं । जैसे कुम्हार मिट्टी को गूँधकर उससे अनेक प्रकार के घटादि बर्तन बनाता है, यहां मिट्टी धर्मी तथा घटादि बर्तन धर्म हैं । धर्मी मिट्टी में कोई परिवर्तन नहीं होता लेकिन धर्म घटादि बदलते रहते हैं, अर्थात् बर्तन के आकार जो भिन्न प्रकार के बदलने से बने हैं, यही एक धर्म का दबना तथा दूसरे धर्म का प्रकट होना मिट्टी धर्मी का धर्म परित्याग कहलाता है ।

(२) लक्षण परिणाम उसको कहते हैं जैसे बर्तन का आकार पूर्व में मिट्टी में छिपा हुआ था, फिर घट बन कर प्रकट हो गया, आगे जीर्ण होने पर पुनः मिट्टी में मिल जावेगा । इस प्रकार मिट्टी में तीनों काल में घटादि वर्तमान रहने से काल भेद से धर्मी मिट्टी में तीन लक्षण परिणाम होते हैं, १—भविष्य लक्षण परिणाम, २—वर्तमान लक्षण परिणाम, ३—भूत लक्षण परिणाम ।

(३) अवस्था परिणाम—घटादि के जीर्ण होने एवं किसी समय टूटने-फूटने का समय ही अवस्था परिणाम है।

चित्त त्रिगुणात्मक होने से परिणामी है, उसमें हर समय वृत्ति रूप परिणाम होता है। व्युत्थान के संस्कार (क्षिप्त, मूढ़ विक्षिप्त) चित्त के धर्म हैं। इसलिये वृत्तियों के निरोध होने पर भी इनका (व्युत्थान के संस्कारों का मौजूद रहना स्वाभाविक है। इसी प्रकार निरोध पर-वैराग्य) के संस्कार भी चित्त के धर्म हैं। इन दोनों संस्कार रूपी धर्मों में से एक धर्म का दबना दूसरे का प्रकट होना धर्मी चित्त का धर्म परिणाम है। अर्थात् चित्त का निरोध संस्कारों से सम्बन्वित हो जाना व्युत्थान धर्म से निरोध धर्म में परिणत होना निरोध परिणाम है।

अब निरोध संस्कार का फल बताते हैं।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—निरोध संस्कार से चित्त की प्रशान्त प्रवाह वाली स्थिति होती है।

व्याख्या—जब व्युत्थान के संस्कार रूप मल दब जाते हैं तथा निरोध अर्थात् 'पर-वैराग्य' के संस्कार बढ़कर प्रबल हो जाते हैं, उस समय चित्त में निरोध संस्कारों की बाहुल्यता से निर्मल संस्कारों की निरोध धारा बहती रहती है। यही चित्त का प्रशान्त होना एवं एक-रस बहना है। जैसे काष्ठ समाप्त होने पर अग्नि भी शान्त हो जाती है, वैसे ही वृत्ति के क्षीण होने पर संस्कार अन्तर बाधित हो जाते हैं। यही चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति है और यही चित्त का अवस्था परिणाम है।

इस चित्त की प्रशान्त अवस्था में निरोध संस्कारों को दृढ़ करना सिद्धि के देने वाला होगा अन्यथा निरोध के संस्कार कम होते ही व्युत्थान के संस्कार दबा लेंगे और कैवल्य स्थिति का लाभ कठिन हो जावेगा।

निरोध परिणाम बताकर समाधि परिणाम कहते हैं ।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः ॥११॥

सूत्रार्थ—**सभी विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का नाश हो जाना और एक ही ध्येय को चिंतन करने वाली एकाग्रता की अवस्था प्राप्त होना चित्त का समाधि परिणाम है ।**

व्याख्या—निरोध समाधिस्थ होने से पूर्व चित्त विक्षिप्त अवस्था में सभी विषयों की ओर दौड़ता है, यद्यपि सतोगुण की प्रधानता होती है तो भी रजोगुण के रहने से निरोध का अभाव रहता है । निरोध समाधिस्थ होने पर चित्त सब विषयों से रहित होकर एकाग्रता की स्थिति प्राप्त करता है इस तरह धर्मी (चित्त) के विक्षिप्त, एकाग्रता दोनों ही धर्म हैं । जब चित्त के विक्षिप्त अवस्था के संस्कार दब जाते हैं और एकाग्रता के धर्म प्रकट होते हैं, वही संप्रज्ञात समाधि काल में होने वाला समाधि परिणाम है । अर्थात् निर्वितर्क एवं निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि में केवल ध्येय मात्र का ही ज्ञान रहता है, चित्त को निज स्वरूप भी स्मरण नहीं रहता । अतः चित्त का विक्षिप्त अवस्था से एकाग्रता में होना समाधि का परिणाम है ।

निरोध परिणाम वह है जब असंप्रज्ञात में निरोध संस्कारों के प्रादुर्भाव से एकाग्रता के संस्कार दब जाते हैं । समाधि परिणाम में व्युत्थान के संस्कारों का क्षय एवं एकाग्रता का उदय होता है । यही इनमें भेद है ।

चित्त की परिपक्व अवस्था में एकाग्रता परिणाम बताते हैं ।

ततः पुन शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यै का-ग्रतापरिणामः ॥१२॥

सूत्रार्थ—ततः **इसके बाद फिर जब शान्त उदय हुई दोनों**

हो वृत्तियाँ एक-सी हो जाती हैं तब चित्त का एकाग्रता परिणाम है।

समाधि परिणाम के निरन्तर अभ्यास से जब चित्त का विक्षेप शान्त हो जाता है और उसकी परिपक्व अवस्था हो जाती है, उसमें शान्त होने वाली और उदय होने वाली वृत्ति एक-सी हो जाती हैं, यही चित्त का एकाग्रता परिणाम है। यद्यपि चित्त की वृत्तियाँ इस अवस्था में भी बदलती हैं परन्तु जैसे विक्षेप में थीं वैसी नहीं रहतीं। समाहित चित्त में जैसी वृत्ति दबती है वैसी ही उदय होती रहती है। समाधि परिणाम में संप्रज्ञात समाधि से पहिले (चित्त की) शान्त होने वाली और उदय होने वाली वृत्तियों का भेद होता है। किन्तु जब एकाग्रता परिणाम होता है तब शान्त-उदय वृत्तियों का भेद मिट जाता है और चित्त की परिपक्व स्थिति हो जाती है।

चित्त के समान ही भूत, इन्द्रियों के परिणाम कहते हैं।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

सूत्रार्थ—इसी तरह चित्त-परिणाम के समान पंच भूतों एवं इन्द्रियों के धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम तथा अवस्था-परिणाम जानना चाहिये।

व्याख्या—धर्म परिणाम वह होता है जब धर्मी पहिले धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म की प्राप्ति करता है।

जैसे चित्त में धर्म परिणाम, जो इसी पाद के नवम सूत्र में कहा है, व्युत्थान के संस्कारों का दबना तथा निरोध संस्कारों का प्रकट होना, चित्त का धर्म-परिणाम है। ग्यारहवें सूत्र में जो समाधि-परिणाम कहा है, उस समय चित्त के सर्वदेशीय धर्म का दबना तथा एकाग्रता धर्म का प्रकट होना धर्मी चित्त का धर्म-परिणाम है। इसी तरह

भूतों में धर्म परिणाम समझना चाहिये जैसी गूँधी हुई मिट्टी के पिंड से घट रूप मिट्टी का हो जाना—धर्मी का धर्म परिणाम है। इन्द्रियों का धर्म परिणाम वह है जैसे नेत्र धर्मी को अपने धर्म नील, पीत आदि में से एक रूप को छोड़कर दूसरे का ज्ञान होता है।

लक्षण परिणाम, काल परिणाम को ही कहते हैं। यह तीन भेद वाला भविष्य-वर्तमान-भूत कालों से होता है।

घट का आकार प्रकट होने से पहिले धर्मी मिट्टी में छिपा हुआ था। जब तक प्रकट नहीं हुआ था तब तक अनागत (भविष्य) लक्षण परिणाम एवं घट बनकर वर्तमान लक्षण परिणाम जब टूटकर मिट्टी में मिल गया तब अतीत लक्षण परिणाम होता है।

इसी प्रकार धर्मी नेत्र के धर्म नील, पीत आदि के ज्ञान प्रकट होने से पूर्व भविष्य काल में छिपा रहना उसका अनागत लक्षण परिणाम है। भविष्य काल से वर्तमान काल में प्रकट होना वर्तमान लक्षण परिणाम है। पुनः वर्तमान से अतीत मार्ग में छिप जाना अतीत लक्षण परिणाम हैं।

अवस्था परिणाम उसे कहते हैं जो वर्तमान लक्षणयुक्त धर्म में नवीनता से जीर्ण अवस्था(पुरानापन) आता है। यह हर समय बदलता रहता है और वर्तमान लक्षण को छोड़कर अतीत लक्षण में चला जाता है। जैसे बालक से युवक तथा युवक के वृद्ध हो जाना एक दिन में नहीं हो सकता वैसे ही अवस्था का परिणाम हर समय होता रहता है।

दशवें सूत्र में कही हुई निरोध समाधि के भंग तक जो निरोध संस्कार हर क्षण दृढ़ होकर अन्त में दुर्बल होते हुये प्रशान्त प्रवाही हो जाते हैं यह उनका अवस्था परिणाम है। इसी प्रकार पंच भूतों-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और इन्द्रियों में धर्म, लक्षण, अवस्था परिणामों को जानना चाहिये।

अब धर्मी का रूप बताते हैं।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

सूत्रार्थ—शान्त (अतीत) उदित (वर्तमान)। अव्यपदेश्य (भविष्यत्) अर्थात् अतीत, वर्तमान, भविष्यत् धर्मों में जो व्याप्त रहता है (आधार रूप से विद्यमान रहता है) वह धर्मी है।

व्याख्या—जैसे मिट्टी द्रव्य धर्मी है और गोले, बर्तन तथा बर्तनों के टुकड़े भिन्न भिन्न आकार जो हो चुके हैं तथा जो होंगे उसके धर्म हैं। धर्मी सामान्यरूप द्रव्य अनेकों विशेषरूपी-धर्मों में व्याप्त हैं। उसके तीन भेद इस प्रकार हैं—

(१) शान्त—शान्त धर्म वे हैं जो अपना-अपना व्यापार करके भूतकाल में चले गये, जैसे घट टूटकर मिट्टी में वर्तमान से अतीत धर्म में लीन हो गया।

(२) उदित—उदित धर्म वे हैं जो अनागत काल को छोड़कर वर्तमान काल में अपना व्यापार कर रहे हैं, जैसे घट मिट्टी में छिपा हुआ रूप था, अब वर्तमान में प्रकट रूप घट धर्म है।

(३) अव्यपदेश्य—-जो अनागत भविष्यत् में शक्तिरूप से स्थिति हुये व्यवहार में न लाये जा सकें तथा न वह कहने में आ सकें, जैसे मिट्टी में बर्तन प्रकट होने से पहिले शक्तिरूप में छिपे रहते हैं इन्हीं को अनागत या आने वाले कहते हैं।

इस प्रकार शान्त, उदित, अव्यपदेश्य धर्मों में जो व्याप्त रहता है वही धर्मी है।

एक ही धर्मी के अनेक परिणाम किस तरह होते हैं? यह अगले सूत्र में बताते हैं।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतु ॥१५॥

सूत्रार्थ—क्रमों का भेद परिणाम के भेद में कारण है।

व्याख्या—एक द्रव्य के अनेकों क्रमों से अनेकों परिणाम होते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी एक द्रव्य का एक क्रम से जो परिणाम होता है दूसरे क्रम से उससे भिन्न परिणाम होता है। तीसरे क्रम से तीसरा परिणाम होता है। जैसे कपास से कपड़ा बनता हैं तो पहिले कपास के बिनौले अलग कर, फिर धुन कर, पूनी बनाकर, सूत तैयार करके, ताना बाना करके, अन्त में वस्त्र बनेगा। इस क्रम से कपास का वस्त्र रूप में बदल जाना ही परिणाम है जब कपास से बत्ती बनानी है तो बिनौले निकालकर कुछ फैला कर बट देने से बत्ती बन जायगी। यदि सूत की रस्सी बनानी है तो सूतों को तीन गुना कर बट देने से रस्सी बन जायेगी। इस तरह वस्त्र, बत्ती तथा रस्सी बनने में क्रम का भेद करने से परिणामों में भी भेद रहा—अर्थात् क्रम भेद से ही कपास के वस्त्र, बत्ती, रस्सी के परिणाम हुये। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं में भी जानना चाहिये।

जिस तरह बाहर के पदार्थों में अनेक धर्म परिणाम हैं उसी प्रकार चित्त में भी अनेक प्रकार के धर्म परिणाम है। चित्त के दो धर्म हैं—१—परिदृष्ट, २—अपरिदृष्ट।

(१) परिदृष्ट धर्म—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, रागद्वेष आदि चित्त की वृत्तियाँ जो प्रत्यक्ष रूप है।

(२) अपरिदृष्ट धर्म—निरोधादि धर्म जिनका ज्ञान शास्त्र एवं अनुदान से होता है यही अप्रत्यक्ष (अपरिदृष्ट) सात प्रकार के हैं।

निरोध धर्म संस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शन वर्जिताः॥

निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति, यह चित्त के दर्शन रहित (परोक्ष) धर्म हैं इन सातों का ज्ञान शास्त्र तथा अनुमान से होता है।

पहिले जो धारणा, ध्यान, समाधि, कह चुके हैं उनकी किस

ध्येय वस्तु में सिद्धि कर लेने पर उसका क्या फल प्राप्त होता है ? इसका वर्णन विभूतिपाद की समाप्ति तक किया जायगा। इनको ही योग विभूति कहते हैं। साधक अपने कल्याण के लिये जो उत्तम मालूम हो उसी का अनुशीलन करे।

अब संयम का फल बताते हैं।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—तीनों परिणामों (धर्म, लक्षण, अवस्था) में संयम करने से अतीत व अनागत (भूत, भविष्यत्) का ज्ञान होता है।

व्याख्या—पहिले बता चुके हैं कि संसार के समस्त पदार्थ धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम, और अवस्था परिणाम के अन्तर्गत रहते हैं। साधक इन तीनों परिणामों को लक्ष्य में रखकर संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) करता है तो उनका साक्षात्कार होने पर भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनों काल का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् योगी क्रम परिणाम को समझ जाता है कि किस-किस अवस्था में होकर यह वस्तु किस रूप में पहुँच चुकी है एवं आगे इसका क्या रूप होगा और कितने समय में होगा ? जब योगी को समय से आगे पीछे की बातों का ज्ञान हो जाता है तो किसी प्रकार का विघ्न आने वाला हो उसका निवारण भी उचित उपायों से कर सकता है।

अथवा तीनों परिणामों में संयम के द्वारा रजोगुण, तमोगुण दूर होकर सतोगुण का प्रकाश होने से भूत, भविष्य का ज्ञान होता हैं।

अब दूसरी विभूति कहते हैं।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संस्करस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभतरुतज्ञानम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—शब्द, अर्थ, ज्ञान इन तीनों का जो एक में दूसरे

का अभ्यास हो जाने के कारण मिश्रण हो रहा है उनके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—शब्द जीभ (जिह्वा) से कहा जाता है, कानों से सुना जाता है और कहने वालों की वाणी में रहता है। अर्थ, शब्द से जाना जाता है, जैसे गौशाला आदि। प्रत्यय (ज्ञान) चित्त की वृत्ति है, जो शब्द गौ, एवं अर्थ गौ का ज्ञान करती है। इस प्रकार शब्द, अर्थ, ज्ञान तीनों अलग-अलग हैं, क्योंकि शब्द वक्ता की जिह्वा में, अर्थ गौशाला में, ज्ञान श्रोता के मन में रहता है। परन्तु तीनों का परस्पर अभ्यास के कारण मिश्रण हुआ रहता है अर्थात् तीनों मिले हुए मालूम होते हैं।

योगी के संयम-अभ्यास करने से समाधि प्रज्ञा प्राप्त होती है। इसलिये शब्द-अर्थ ज्ञान-विभाग में संयम करने से सब प्राणियों की बोली को जान लेता है।

अब अन्य सिद्धि बताते हैं।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—संस्कारों का साक्षात् कर लेने से पूर्व जन्म का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है एवं इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव करता है उस सबके संस्कार संचित होकर बीज रूप से अन्तःकरण में रहते हैं। वे संस्कार दो प्रकार के होते हैं—एक वासना रूप जो स्मृति के कारण हैं, दूसरे धर्म-अधर्म रूप जो जाति, आयु, भोग, और उनमें सुख-दुःख के कारण है। ये दोनों प्रकार के संस्कार अनेक जन्मों से इकट्ठे होते आ रहे हैं। ये परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति जीवन और धर्म की भाँति अपरिदृष्ट चित्त के धर्म हैं। उन संस्कारों में संयम करके उनको प्रत्यक्ष कर लेने से पूर्व जन्म का ज्ञान हो जाता है। जिस देश और जिस काल और जिन निमित्तों से वे संस्कार बने हैं

सबका स्मरण हो जाता है। जैसे अपने संस्कारों को संयम कर प्रत्यक्ष कर लेने पर अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है वैसे ही दूसरे पुरुषों के संस्कारों में संयम कर प्रत्यक्ष कर लेनें से उनके पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

यही बात आगे कहते हैं।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—अन्य पुरुष के चित्त वृत्ति के साक्षात्कार करने से दूसरे की चित्त वृत्ति मात्र का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—योगी को अपने जन्म-जन्मान्तरों का ज्ञान होने पर उसकी यह शक्ति प्राप्त हो जाती है कि यदि वह दूसरों के नेत्र चेहरा आदि देखकर उसके चित्त वृत्ति में संयम करता है तो उसको उस चित्त का साक्षात् होता है, चित्त की वृत्तियों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और उसके मन की बातें योगी को सभी मालूम हो जाती हैं। वृत्ति मात्र के संयम से वृत्तियों का ही ज्ञान होता है। प्रत्यय मात्र के संयम से यह नहीं जान सकता कि चित्त किस विषय में स्थित है अर्थात् दूसरे का चित्त राग द्वेष से युक्त है अथवा रहित है यही ज्ञान होता है। राग द्वेष का विषय ज्ञान नहीं होता कि किस विषय में राग है तथा किस विषय में द्वेष है।

इसी विषय को अगले सूत्र में कहते हैं।

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थ—किन्तु वह ज्ञान आलम्बन सहित नहीं होता क्योंकि योगी के चित्त का विषय नहीं है।

व्याख्या—पहिले सूत्र में कहा है कि अन्य पुरुष की चित्त वृत्ति संयम द्वारा दूसरे के चित्त की वृत्तियों का ही "राग द्वेष से मुक्त है या युक्त है" यही ज्ञान होता है। उनके विषय का ज्ञान नहीं होता कि अमुक विषय में आसक्त है अर्थात् किस विषय में राग है एवं किस विषय में द्वेष है। क्योंकि ये उस संयम के विषय न थे। संयम से उसी

का साक्षात् होता है जो उसका विषय है। क्योंकि योगी के चित्त का विषय दूसरे का चित्त है उसका आलम्बन नहीं है।

अब अन्य सिद्धि का वर्णन करते हैं।

कायरुपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम ॥२१॥

सूत्रार्थ—शरीर रूप में संयम करने से रूप की ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है। इससे दूसरे की आँखों के प्रकाश का संयोग न होने पर योगी अन्तर्धान हो जाता है।

व्याख्या—नेत्र ग्रहण शक्ति एवं रूप ग्राह्य शक्ति है। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध से देखना होता है यदि इन दोनों ग्रहण शक्ति, ग्राह्य शक्ति में से एक शक्ति रुक जाय तो देखने का काम बन्द हो जाता है। योगी संयम द्वारा अपने शरीर की ग्राह्य शक्ति को रोक देता है, इस कारण अन्य पुरुष के नेत्र की ग्रहण शक्ति होते हुये भी योगी के शरीर को नहीं देख सकते। यही योगी का अन्तर्धान (छिप जाना) है। इसी तरह शब्द, स्पर्श, रस और उनकी ग्राह्य शक्तियों को रोकने से कान, त्वचा, जिह्वा, नासिका, इन्द्रियों के ज्ञान का शब्द आदिकों के साथ सम्बन्ध न होने से उनका ज्ञान नहीं होता। जैसे योगी ने शब्द में संयम कर लिया है तो उसके शब्द को कोई नहीं सुन सकता। यदि स्पर्श में संयम कर लिया है तो योगी के शरीर को कोई छू नहीं सकता। इसी तरह अन्य सिद्धियाँ भी समझनी चाहिये।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

सूत्रार्थ—उपक्रम सहित (तीव्र वेग वाले) उपक्रम रहित (मन्द वेग वाले) दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से मृत्यु का ज्ञान होता है अथवा अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान होता है।

व्याख्या—मनुष्य की आयु पूर्व जन्म के कर्मानुसार होती है। वह कर्म दो प्रकार के होते हैं–पहिले 'सोपकर्म' अर्थात् जिनका फल प्रारम्भ हो चुका है, बहुत सा फल हो गया है और अभी बाकी है तथा तीव्र वेग से अपना कार्य करते हुये आयु को समाप्त करते हैं। दूसरे 'निरूप कर्म' जिनके फल भोगने का काम अभी प्रारम्भ नहीं हुआ यह मंद वेग वाले हैं। जिस तरह जल में भीगे हुये कपड़े को धूप में सुखाने से जल्दी सूख जाता है और उसी भीगे कपड़े को लपेटकर छाया में सुखाने से देर में सूखता है, इसी तरह तीव्र वेग वाले एवं मन्द वेग वाले दो प्रकार के कर्मों में संयम करके योगी इस तरह प्रत्यक्ष कर लेता है कि कौन से कर्म कितना फल कर चुके एवं कितना शेष है तथा कितने समय में इनका फल समाप्त हो जायेगा। तब उसे अपनी आयु का अर्थात् मृत्यु का ज्ञान हो जाता है!

अथवा अरिष्टों से (बुरे चिह्नों से) जो मृत्यु के सूचक हैं अपनी आयु का ज्ञान हो जाता है। वे अरिष्ट तीन प्रकार के हैं— (१) आध्यात्मिक, (२) आधिभौतिक, (३) आधिदैविक।

(१) आध्यात्मिक अरिष्ट वह हैं जैसे कानों के छिद्र को अँगुली से बन्द करने से जो प्राण वायु का शब्द सुन पड़ता है उसका सुनाई न पड़ना।

(२) आधिभौतिक अरिष्ट वह हैं जैसे यमदूतों एवं मरे हुये पुरुषों का अकस्मात् देखना और यह मालूम होना मानों सामने खड़े हैं।

(३) आधिदैविक वह हैं कि अकस्मात स्वर्ग व सिद्धों का देखना या आकाश के नक्षत्र तारागण का व्यतिक्रम दीखना। इन अरिष्टों द्वारा साधारण मनुष्यों को भी आयु ज्ञान हो जाता है। संयम से योगियों को मृत्यु ज्ञान होता है।

चित्त-शुद्धि से हुई सिद्धियों को कहते हैं।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२३॥

सूत्रार्थ—**मैत्री आदि में संयम करने से मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं।**

व्याख्या—समाधिपाद के तेंतीसवें सूत्र में कही हुई मैत्री, करुणा, मुदिता इनमें संयम करने से मित्रतादि बल योगी को प्राप्त होता है। अर्थात् सुखी मनुष्यों में मित्रता का संयम करने से उन सबका मित्र बनकर उनको सुख पहुँचाने में समर्थ हो जाता है। दुःखी मनुष्यों में करुणा की भावना का संयम करने से करुणा बल प्राप्त होता है, जिससे हर प्राणधारी के दुःख का निवारण कर सकता है। पुण्यात्मा मनुष्यों में मुदिता की भावना का संयम करने से आनन्द बल प्राप्त हो जाता है, जिससे सभी प्राणियों को आनन्द देने की शक्ति हो जाती है। उपेक्षा (उदासीनता) में संयम का अभाव होने से उदासीनता का कोई बल प्राप्त नहीं होता क्योंकि यह अभावात्मक पदार्थ है।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२४॥

सूत्रार्थ—**हाथी आदि के बलों में संयम करने से उन्हीं के समान बल प्राप्त होता है।**

व्याख्या—यदि योगी हाथी के बल में संयम करता है तो हाथी के समान बल प्राप्त होता है। यदि गरुड़ के बल में संयम करता है तो गरुड़ के समान बल प्राप्त होता है। यदि पवन के बल के साथ संयम करता है तो पवन के समान बल प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिसके बल के साथ संयम करेगा उसी के बल के समान बल की सिद्धि होती है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-ज्ञानम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—**ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से सूक्ष्म**

(जो इन्द्रियों से नहीं जानी जायें) व्यवधान वाली (आड़ में रहने वाली) विप्रकृष्ट (दूर की) वस्तुओं का ज्ञान होता है।

व्याख्या—इन्द्रियों से तीन प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता एक तो जो अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं जैसे परमाणु, महत्तत्व, आत्मा, प्रकृति आदि दूसरी जो आड़ में छिपी हुई हों जैसे जमीन में गड़ा हुआ धन, समुद्र में रत्न, खान में सोना आदि। तीसरी विप्रकृष्ट अर्थात् जो अन्य देश में हो जैसे पहाड़ पर पड़ी हो। इनमें किसी वस्तुओं को जानने के लिये योगी जब ज्योतिष्मती प्रवृत्ति (१।३६।४७) के प्रकाश में संयम करता है तो उनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से घट आदि प्रत्यक्ष दीखते हैं उसी प्रकार सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्यें संयमात् ॥२६॥

सूत्रार्थ— सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान होता है।

व्याख्या—यद्यपि भुवनों का वर्णन पुराणों में बताया है किन्तु यहाँ प्रसंग वश संक्षिप्त देते हैं। पृथिवी के नीचे अवीचि नरक से लेकर सुमेरु की पीठ तक भूःलोक तथा मेरु की पीठ से ध्रुव ग्रह तक नक्षत्र, तारागणों से युक्त अन्तरिक्ष लोक है; इसी को भूःलोक कहते हैं। इससे ऊपर स्वर्गलोक है, इसी को महेन्द्रलोक कहते हैं। इस लोक की पाँच श्रेणी हैं। चौथा प्रजापति का महःलोक, इससे आगे जनलोक, तपः लोक है। इस प्रकार १ भूःलोक, २ भुवःलोक, ३ स्वःलोक, ४ महः लोक, ५ जनलोक, ६ तप लोक, ७ सत्य लोक ये सात ऊपर के हैं।

पृथ्वी के नीचे चौदह लोक और हैं। सबसे नीचा अवीचि नरक है। उसके ऊपर मिट्टी-कंकण से पूरित महाकाल है। उसके ऊपर अम्ब-रीष जल से भरा है। उसके ऊपर रौरव नरक है जो अग्नि से पूरित

है। पुनः ऊपर महारौरव है जो वायु के प्रचंड वेगों से व्याप्त है। ऊपर महासूत्र जो आकाश-वत् अर्थात् खाली है। ऊपर अन्ध तामिस्र अंधकारयुक्त है। पुराणों में २८ नरक कहे हैं। अस्तु अपने कर्मानुसार प्राणी यातना भोगने के लिये वहां जन्म पाते हैं।

इनके नीचे सात पाताल है जैसे—१—महातल, २—रसातल, ३—अतल, ४—सुतल, ५—वितल, ६—तलातल, ७—पाताल। आठवीं पृथ्वी है। इसके मध्य भाग में सुमेरु पर्वतराज है। पृथ्वी सात द्वीप वाली है। सुमेरु की चार चोटी चाँदी, वैदूर्य, स्फटिक, स्वर्ण से दीप्तमान चारों दिशाओं में स्थित हैं। वहां आकाश की छवि मणियों आदि के अनुसार वैसे ही रंग की शोभायमान दीखती है। सुमेरु के ऊपर दक्षिण भाग में जम्बू (वृक्ष) बहुत बड़े आकार वाला है इसी से इस लोक का नाम जम्बू द्वीप है।

सुमेरु के चारों तरफ सूर्य भ्रमण करता है जहाँ प्रकाश दीखता है वहाँ दिन जहां सूर्य नहीं दीखता वहाँ रात होती है। सुमेरु से उत्तर में नील श्वेत शृङ्गवान् पर्वत हैं जिनका विस्तार दो दो हजार वर्ग योजन है। इनसे घिरे हुये तीन महादेश रमणक, हिरण्मय, उत्तर कुरु हैं, जो हर एक नौ हजार योजन वाला है। सुमेरु के दक्षिण में निषध, हेमकूट, हिमशैल दो-दो हजार योजन विस्तार के हैं। उनके अन्दर नौ-नौ हजार योजन विस्तार वाले तीन महा देश हरि वर्ण, किंपुरुष, भारत हैं। सुमेरु से पूर्व की सीमा भद्राश्व और माल्यवान से घिरी है। पश्चिम दिशा केतुमाल एवं गन्धमादन से घिरी है, मध्य में इलावृत महा देश है। इस प्रकार सौ हजार वर्ग योजन विस्तार का जम्बू दीप है। यह अपने द्विगुण विस्तार वाले क्षार समुद्र के कंकड़ की तरह चारों ओर से घिरा हुआ हैं। इसी तरह द्विगुण-द्विगुण विस्तार वाले शाक, कुश क्रौंच, शाल्मल, गोमेघ, पुष्कर द्वीप हैं जो सात समुद्रों से वेष्ठित हैं। समुद्रों का जल क्रम से इक्षु रस, शराब, माखन, दही, मांढ़, दूध

के समान है। ये सुन्दर पर्वतों स शोभायमान पचास कोटि योजन का पृथ्वी-मंडल ब्रह्मांड के अन्तर्गत खद्योत के समान सूक्ष्म अणु के समान आकार वाला है।

पाताल, समुद्र, पर्वतों में असुर, गंधर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरा, ब्राह्मराक्षस, विनायक आदि राजसी, तामसी प्रकृति वाले प्राणी रहते हैं। द्वीपों में पुण्यात्मा पुरुष, देवता रहते हैं। सुमेरु देवों की उद्यान भूमि हैं वहाँ मिश्रधन, नन्दन, चैत्ररथ, सुमानस, चार वन हैं। सुधर्मा देवों की सभा तथा सुदर्शन वैजयन्त राजमहल है। यह सब भूलोक है। इससे ऊपर अन्त-रिक्ष आदि हैं। इन समस्त भुवनों का ज्ञान सूर्य में संयम द्वारा सा-क्षात्कार होने पर होता है। यह सिद्धि पूर्ण अभ्यास से ही प्राप्त हो सकती है। वाचस्पति मिश्र ने सूर्यद्वार को सुषम्ना नाड़ी में संयम करके कुंडलिनी के जाग्रत होने पर सभी का अनुभव हो जाता है, यह कहा है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२७॥

सूत्रार्थ—चन्द्रमा में संयम करने से सब नक्षत्रों की स्थिति का ज्ञान होता है।

व्याख्या—यहां यह संदेह होता है कि सूर्य के संयम द्वारा जब चौदह भुवनों का ज्ञान होता है फिर चन्द्र संयम क्यों वर्णन किया? इसका उत्तर यह है कि सूर्य के प्रकाश में तारा-गणों का प्रकाश मलीन होने से स्पष्ट मालूम नहीं होता। इसलिये चन्द्र संयम से ही नक्षत्रों की स्थिति का ज्ञान होता है।

ज्योतिष गणनानुसार चन्द्रमा शीघ्रगामी होने से अपने चान्द्र मास में बारहों राशियों पर चक्कर लगाता है एक वर्ष में पृथ्वी के बारह चक्कर लगाता है। प्रत्येक नक्षत्रगण की राशि के साथ आकर्षण विकर्षण शक्ति चन्द्रमा की होने से तारागणों की स्थिति का ज्ञान चन्द्रमा के संयम से ही होता है।

ध्रुवेतद्गति ज्ञानम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—ध्रुव में संयम करने से ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

व्याख्या— ध्रुव तारा सब में प्रधान व स्थिर है। सब ताराओं की गति का उससे सम्बन्ध है। अतः ध्रुव का संयम करने से ताराओं की गति अर्थात् कौन कितने समय में, किस राशि तथा नक्षत्र पर जायगा इसका पूरा पूरा ज्ञान हो जाता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—नाभि चक्र में (संयम करने से) शरीर की स्थिति का ज्ञान होता है।

व्याख्या—नाभि चक्र शरीर से मध्य में पिंडाकार सोलह सिर वाला मांस का गोला है जो सब नाड़ियों का केन्द्र है। शरीर की समस्त नाड़ियों का उससे सम्बन्ध है। उसमें संयम करने से वात, पित्त, कफ, तीनों दोष एवं त्वचा, रक्त, मांस, नाड़ी, हड्डी, चर्बी, वीर्य सातों धातुओं की स्थिति का ज्ञान हो जाता है।

कंठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥३०॥

सूत्रार्थ—कंठ कूप में संयम करने से भूख प्यास दूर होती है।

व्याख्या—जीभ के नीचे एक नस तन्तु के समान है, उसके नीचे कंठ है, उसके नीचे का गढ़ा कंठ-कूप कहाता है। उसका प्राण वायु से स्पर्श होना ही क्षुधा तृषा का कारण है। अर्थात् कंठ कूप से प्राण वायु के टकराने भूख-प्यास लगती है। उसमें संयय करने से प्राण वायु का स्पर्श न होने से भूख-प्यास की बाधा नष्ट हो जाती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता प्राप्त होती है।

व्याख्या—वक्षस्थल में कंठ-कूप के नीचे कच्छप के आकार के समान नाड़ी है, जिसे कूर्म नाड़ी कहते हैं, उसमें संयम करने से योगी सर्प तथा गोह की तरह ज्ञानशून्य जड़ावस्था को प्राप्त करता है।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥३२॥

सूत्रार्थ—मूर्धा की ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है।

व्याख्या—शिर-कपाल के अन्दर छिद्र है उसमें प्रकाशमान ज्योति है। उसको मूर्धा-ज्योति, ब्रह्म-रन्ध्र, और सुषुम्ना-नाड़ी भी कहते हैं। उसमें संयम करने से द्यौ और पृथ्वी लोक में विचरने वाले दिव्य पुरुषों के, जो साधारण मनुष्यों को नहीं दीखते हैं, दर्शन होते हैं योगी ध्यानावस्था में उनसे बातचीत करता है।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥३३॥

सूत्रार्थ—अथवा प्रतिभा ज्ञान से सर्वज्ञाता होता है।

व्याख्या—प्रतिभा-ज्ञान अपूर्व बुद्धि से उत्पन्न तत्व विवेक ज्ञान का पूर्वरूप है। इसी को तारक (३।५४) कहते हैं। इसकी उत्पत्ति होने पर योगी को बिना संयम के ही संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। इससे पूर्व जो-जो संयम कहे हैं और उनसे जो-जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं एवं जिन-जिन विषयों का ज्ञान होता है वह सभी प्रकार का ज्ञान प्रतिभा-ज्ञान से हो जाता है। प्रतिभा-ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं अन्दर से प्राप्त होता है। जिस प्रकार सूर्य उदय होने पर मनुष्य को सभी वस्तुयें दीखने लगती है उसी प्रकार प्रतिभा-ज्ञान से योगी सब कुछ जान लेता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥३४॥

सूत्रार्थ—हृदय में संयम द्वारा चित्त का ज्ञान होता है।

व्याख्या—हृदय में अधोमुख वाला सूक्ष्म कमलाकार स्थान है। उसके अन्दर अन्तःकरण चित्त का स्थान है। इसमें संयम करने से योगी को अपने चित्त की वासनाओं तथा दूसरे के चित्त में स्थित रागादि का ज्ञान होता है।

चित्त के स्वरूप का ज्ञान होने पर विवेक होते ही पुरुष के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है यह बताते हैं।

सत्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३५॥

सूत्रार्थ—सत्व (बुद्धि) और पुरुष जो दोनों परस्पर भिन्न हैं, इन दोनों का अभेद ज्ञान भोग है। उसमें से परार्थ प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है उसमें संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है।

व्याख्या—बुद्धि या चित्त परिणामशील, जड़, भोग्य, एवं चंचल है। पुरुष अपरिणामी चेतन और भोक्ता एवं असंग है। ये दोनों परस्पर भिन्न हैं इनका कोई मेल नहीं है। तो भी जड़ चित्त में चैतन्य पुरुष से प्रतिबिंबित होकर जो सुख दुःखादि वृत्तियों का उत्पन्न होना है वह वृत्ति अविशेष (अभिन्न मिश्रित) है, क्योंकि इससे चित्त के धर्म सुख-दुःख और मोह आदि में प्रतिबिंबित चैतन्य पुरुष (आत्मा) में अध्यारोपित होते हैं। यह अभेद प्रतीति ही भोग है। अर्थात् सुख-दुःख का भोग चित्त को होता है, पुरुष अज्ञान से अपने को सुखी-दुःखी मानता है। यह मानना ही भोग है। जैसे स्वच्छ जल की हिलोरों में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब हिलता हुआ मालूम होता है, वास्तव में चन्द्रमा नहीं हिलता है, उसी प्रकार भोग चित्त का परिणाम होने के कारण वास्तव

में चित्त ही में होता है। परन्तु प्रतिबिम्ब से निर्विकार आत्मा में सुख-दुःखादिकों का आरोप रूप भोग है। आत्मा आरोपित भोग वाला होने से भोक्ता कहलाता है ऐसा चित्त का परिणाम प्रत्यय स्वरूप भोग, जड़ होने से पदार्थ है एवं भोग्य है। इस पदार्थ जड़ भोग से भिन्न आत्मा का प्रतिबिंबित रूप प्रत्यय है। उसी को स्वार्थ कहते हैं। इस स्वार्थ प्रत्यय में संयम करने से आत्म ज्ञान होता है अर्थात् योगी को आत्म-स्वरूप का साक्षात् होता है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वदवार्ताजायन्ते ॥३६॥

सूत्रार्थ—उस स्वार्थ संयम से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, अःस्वाद, वार्ता, ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—(१) इसी पद के तेतीसवें सूत्र में प्रातिभ ज्ञान बताया है; इससे सूक्ष्म, छिपी हुई, देशों में स्थित एवं भूत भविष्य वर्तमान वस्तुओं की जानकारी होती है।

(२) श्रावण—इससे दिव्य शब्द सुना जाता है।

(३) वेदना—दिव्य स्पर्श का अनुभव होता है।

(४) आदर्श—दिव्य रूप का अनुभव होता है।

(५) आस्वाद—दिव्य रस का अनुभव होता है।

(६) वार्ता—दिव्य गन्ध का अनुभव होता है।

व्याख्या—उपरोक्त छहों, सिद्धियाँ ग्रहीतृ विषयक समाधि के साधन में पुरुष ज्ञान से पूर्व ही प्राप्त होती हैं। केवल इन सिद्धियों को पाकर योगी को विश्राम न करना चाहिये, बल्कि पुरुष-ज्ञान की पूर्ण सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥३७॥

सूत्रार्थ—उपरोक्त छहों सिद्धियाँ समाधि सिद्धि (पुरुष ज्ञान प्राप्त करने) में विघ्न हैं, व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—पहिले सूत्र में कही हुई छहों सिद्धियां समाधि प्राप्ति अर्थात् पुरुष ज्ञान करने में विघ्न के समान हैं। क्योंकि इन सिद्धियों में हर्ष, गौरव, प्राप्त होने से साधक को शिथिलता आ जाने की सम्भावना रहती है। अतः परमानन्द मोक्ष के इच्छुक योगी इन सिद्धियों का त्याग कर देते हैं। इनके फंदे में नहीं पड़ते। ये व्युत्थान अवस्था में सिद्धि रूप होती हैं, जैसे दरिद्र मनुष्य थोड़ा द्रव्य पाकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। इसी प्रकार विक्षिप्त चित्त वालों को पुरुष ज्ञान से पहिले होने वाली सिद्धियाँ हर्षद होती हैं।

अब विभिन्न संयमों से विभिन्न प्रकार की क्रिया शक्तियों की प्राप्ति को बताते हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः॥३८॥

सूत्रार्थ—बन्ध के कारण के शिथिल करने से एवं चित्त की गति का सम्यक् प्रकार ज्ञान होने से चित्त का(सूक्ष्म शरीर का) दूसरे के शरीर में प्रवेश होता है।

व्याख्या—मन अत्यन्त चंचल है उसका एक शरीर में स्थिति रहने का कारण सकाम कर्म और उनकी वासनायें हैं। अर्थात् सकाम कर्म फल भोगने के लिये चित्त किसी एक शरीर में बंधे रहने के लिये बाध्य हो जाता है। जब योगी धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास से सकाम कर्मों को त्याग कर निष्काम कर्म करता है तो सकाम कर्मों के परित्याग से बन्धन शिथिल हो जाते हैं और साथ ही जिन मार्गों द्वारा चित्त शरीर में विचरता है उन मार्गों को एवं चित्त की गति को अच्छी तरह जान लेता है। तब उसमें यह शक्ति आ जाती है कि वह अपने शरीर से चित्त (सूक्ष्म शरीर) को निकाल कर अन्य शरीर में प्रवेश कर सकता हैं, जैसे रानी मधुमक्खी के उड़ जाने पर सब मक्खियां उड़ जाती हैं।

उदानजयाज्जलपङ्क कंटकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३९॥

सूत्रार्थ—**उदान के जीतने से जल, कीचड़, काँटा आदि से असंग (साधक के शरीर का संयोग नहीं होता) रहना और ऊर्ध्व गति होती है।**

व्याख्या :—सभी इन्द्रियों को अपने गमनागमन से स्थिर रखने वाला एवं जीवन का आधार प्राणवायु है। इसके क्रिया भेद से पांच नाम हैं—१—प्राण, २—अपान, ३—समान, ४—व्यान, ५—उदान।

(१) प्राण—यह सब में प्रधान है और जब मुख नासिका द्वारा इसकी गति होती है तो नासिका के अग्रभाग से लेकर हृदय तक शरीर में विचरता है।

(२) अपान—यह नीचे की ओर गमन करने वाला है। मूत्र, विष्ठा और गर्भ इसी के वेग से नीचे उतरते हैं। यह नाभि से पावों तक शरीर में व्याप्त रहता है।

(३) समान—हृदय से लेकर नाभि तक इसका देश है एवं खान पान के रस को समस्त शरीर में यथायोग्य पहुँचा देना इसका काम है।

(४) व्यान—सारे शरीर में व्याप्त रह कर सभी नाड़ियों में विचरता है।

(५) उदान—ऊपर की ओर गमन करने वाला है। कंठ स्थान है, सिर तक गमन करता है।

जब योगी संयम द्वारा उदान को जीत लेता है तो उसका शरीर रुई के समान हल्का हो जाता है और पानी में नहीं डूबता, कीचड़ काँटों में पांव नहीं फँसते और मृत्यु के समय उसके प्राण ब्रह्म रन्ध्र से निकलते हैं। वह अपनी इच्छानुसार शरीर को त्याग करता है।

समान जयाज्ज्वलनम् ॥४०॥

सूत्रार्थ—समान वायु को (संयम द्वारा) जीत लेने से (योगी का शरीर) दीप्तिमान होता है ।

व्याख्या—योगी संयम द्वारा जब समान वायु को जीत लेता है तब समान-प्राण के आधीन जो जठराग्नि है उसके आवरण को हटाकर शरीर अग्नि के समान प्रकाशमान हो जाता है । क्योंकि समान वायु का और जठराग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः योगी का शरीर जाज्वल्यमान होता है ।

श्रोत्राकाशयोः संबंधसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥४१॥

सूत्रार्थ— कान एवं आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र होते हैं ।

व्याख्या—शब्द आकाश का गुण है, कान से सुना जाता है । कर्ण इन्द्रिय का एवं शब्द का आधार आकाश है । इससे श्रोत्र इन्द्रिय और आकाश का सम्बन्ध है । इन दोनों के सम्बन्ध में संयम करने पर योगी का दिव्य श्रोत होता है, जिससे वह दिव्य, सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ शब्दों को सुन लेता है । इसी तरह त्वचा वायु, नेत्र तेज, रसना जल, गन्ध पृथ्वी के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य नेत्र, दिव्य रसना तथा दिव्य घ्राँण की सिद्धि प्राप्त हो जाती है, जो इसी पाद के छत्तीसवें सूत्र में कही है ।

कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्ल घुतूल समापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४२॥

सूत्रार्थ—शरीर आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और हल्की वस्तु (रुई आदि) में संयम करने से आकाश गमन की शक्ति हो जाती है ।

व्याख्या—आकाश शरीर को अवकशा (खाली स्थान) देता है और जहाँ शरीर रहता है वहाँ आकाश अवश्य होता है। अतः शरीर एवं आकाश का आधार-आधेय-व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हैं। इनका संयम करके प्रत्यक्ष कर लेने पर योगी यह जान लेता है कि शरीर के अङ्ग किस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म एवं सूक्ष्म से स्थूल किये जा सकते हैं। अतः वह अपने शरीर को हल्का बनाकर इच्छानुसार जल के ऊपर अथवा मकड़ी के जाल पर एवं आकाश में गमन कर सकता है। इसी प्रकार रुई के समान हल्की वस्तुओं का संयम करने से तद्रुप हल्का होकर जल, आकाश में गमन कर सकता है।

आगे के सूत्र में ज्ञान के आवरण के नाश का उपाय बताते हैं।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महा विदेहा ततः प्रकाशा वरणक्षय ॥४३॥

सूत्रार्थ—शरीर के बाहर अकल्पित वृत्ति महा विदेहा है, उससे प्रकाश का आवरण नष्ट हो जाता है।

व्याख्या—शरीर से बाहर मन की स्थिति को विदेह धारणा कहते हैं। वह दो प्रकार की है, कल्पित एवं अकल्पित। जो मन के शरीर में रहते हुए केवल भावना मात्र से होती है, वह कल्पित विदेहा है और दूसरी जो बिना शरीर की अपेक्षा मन की बाहर स्थिर स्थिति हो जाती है वह अकल्पित विदेहा होती है। योगी पहले कल्पित धारणा को सिद्धि करके अकल्पित विदेहा की सिद्धि प्राप्त करते हैं, इसी को महा विदेहा कहते हैं। अकल्पिता महाविदेहा की सिद्धि होने पर योगी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है तथा अनेक लोकों में सूक्ष्म शरीर से भ्रमण कर सकता है। इसके अभ्यास से चित्त के प्रकाश के रोकने वाले अविद्यादि क्लेश, कर्म विपाक आदि मल जो रज के मूलक हैं उनका क्षय हो जाता है। अविद्यादि क्लेश ही चित्त के प्रकाश के आवरण हैं। इनका क्षय होने से योगी का चित्त इच्छानुसार गमन करता है।

अब ग्राह्य पाँच भूतों का संयम कहते हैं।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयावर्थत्त्व संयमाद् भूतजयः ॥४४॥

सूत्रार्थ—पाँचों भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्व में संयम करने से भूतों पर जय प्राप्त होती है।

व्याख्या—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह पंच महाभूत कहे जाते हैं, इन हर एक भूत की पाँच-पाँच अवस्थाऐं होती हैं १—स्थूल, २—स्वरूप, ३—सूक्ष्म, ४—अन्वय ५—अर्थवत्व।

(१) स्थूलावस्था—इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष एवं अनुभव से इनको जिस रूप में हम देखते हैं तथा शब्द स्पर्श रूप, रस और गन्ध नाम के पाँचों विषय इनकी स्थूल अवस्था है। अथवा अपना-अपना विशिष्ट आकार रूप है।

(२) स्वरूपावस्था—पृथ्वी की मूर्ति, जल का गीलापन, अग्नि की उष्णता और प्रकाश, वायु की गति कम्पन, आकाश का अवकाश देना यह इनकी स्वरूप अवस्था हैं।

(३) सूक्ष्म अवस्था—स्थूल भूतों के कारण, जिनको तन्मात्रा कहते हैं जैसे पृथ्वी की गन्ध, जल की रस, अग्नि की रूप, वायु की स्पर्श, आकाश की शब्द—यही सूक्ष्म अवस्था है।

(४) अन्वय रूप—तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण, तीनों प्रकाश, क्रिया, स्थिति धर्म से व्याप्त है।

(५) अर्थवत्त्व अवस्था—ये पंच महाभूत मनुष्य के भोग और अपवर्ग के लिये हैं। यही अर्थवत्त्व अवस्था है।

इस प्रकार पंच भूतों की अवस्थाओं में संयम करके साक्षात् हो जाने पर योगी पंच महाभूतों को जीत लेता है और पूरा वशीकार होता है। जिस प्रकार गौ बछड़े के अनुकूल होती है उसी प्रकार पंच-भूतों की प्रकृत्तियाँ योगी के अनुकूल हो जाती हैं।

भूत-जय का फल बताते हैं।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४५॥

सूत्रार्थ—तब भूतजय के बाद, अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं एवं भूतों के धर्मों से बाधा नहीं होती और कायसंपत प्राप्त होती है।

व्याख्या—पंच भूतों के वशीकार होने पर आठ सिद्धियाँ होती हैं उसके नाम तथा लक्षण यह हैं—

(१) अणिमा—अणु के समान रूप बना लेना।

(२) लघिमा—शरीर को हल्का कर लेना जिससे जल, कीचड़, काँटों पर चलने पर भी उनका असर न होना।

(३) महिमा—शरीर को महान रूप से बढ़ा लेना।

(४) प्राप्ति—इच्छानुसार पदार्थ प्राप्त कर लेना एवं पृथ्वी पर बैठे हुए भी अंगुली से चन्द्रमा का स्पर्श कर लेना।

(५) प्राकाम्य—बिना रुकावट पंच भौतिक पदार्थ सम्बन्धी इच्छा की अनायास ही पूर्ति हो जाना।

(६) वशित्व—पंच भूत एवं तजन्य पदार्थों का वशीकार हो जाना। (भूतों के सूक्ष्म रूप में संयम द्वारा प्राप्त होती है)

(७) ईशित्व—पंच भूत एवं भौतिक पदार्थों के उत्पन्न तथा विनाश करने की शक्ति हो जाना।

(८) यत्र कामावसायित्व—योगी के संकल्प के अनुसार ही भूतों के स्वभाव का अवस्थापन हो जाना।

कायसम्पत्—शरीर का रूप, लावण्य, बल, वज्र के समान संगठन यह आगे के सूत्र में कहेंगे।

भूतों के धर्मों से बाधा न होना—अर्थात् पंच भूत योगी के काम में बाधा या किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाल सकते। जैसे पृथ्वी कठोर है योगी अगर शिला में प्रवेश करना चाहे तो कर सकता है। उस पर पत्थरों की वर्षा से आघात नहीं होता। इसी प्रकार जल का गीलापन उसके शरीर को गला नहीं सकता। अग्नि की ज्वाला जला नहीं सकती। वायु का वेग उड़ा नहीं सकता है। यह सिद्धियाँ पंच भूतों की पाँचों अवस्थाओं पर संयम करके साक्षात्कार होने पर प्राप्त होती हैं।

कायसम्पत् बताते हैं।

रूप लावण्यबलवज्र संहननत्वानि कायसम्पत् ॥४६॥

सूत्रार्थ—रूप, लावण्य और बल तथा वज्र के समान दृढ़ काया की सम्पत् है।

व्याख्या—शरीर की बनावट चेहरा सुन्दर होना रूप है। शरीर में कान्ति होना लावण्यता है। बल होना, सब शरीर वज्र के समान दृढ़, पुष्ट होना यही कायसम्पत् है।

अब मन एवं इन्द्रियों के संयम का दर्पन करते हैं।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्व संयमादिन्द्रियजयः ॥४७॥

सूत्रार्थ—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व, में संयम द्वारा इन्द्रिय जय होती है।

व्याख्या—मन एवं इन्द्रियों के पाँच स्वरूप होते हैं। क्रम से पाँचों रूपों में संयम से साक्षात्कार हो जाने पर इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। मन इन्द्रियों की पाँच अवस्थायें निम्नलिखित हैं—

(१) ग्रहण—ग्राह्य विषयों में जो इन्द्रियों की वृत्ति हो जाती है उसको ग्रहण कहते हैं, उसको विषयाभिमुखी वृत्ति भी कहते हैं।

(२) स्वरूप—इन्द्रियों और मन का स्वाभाविक रूप प्रकाशकत्व।

(३) अस्मिता—इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप है।

(४) अन्वय—सत, रज, तम जो प्रकाश, क्रिया, स्थिति, धर्म से इन्द्रियों में अनुगत हैं।

(५) अर्थवत्त्व—पुरुष को भोग अपवर्ग दिलाना। योगी मन एवं इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं में संयम से साक्षात्कार कर लेता है तब इन्द्रियजय होता है।

इन्द्रियजय का फल कहते हैं।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

सूत्रार्थ—उस (इन्द्रियजय से) मन के समान गति, शरीर के बिना विषयों का अनुभवशील होना तथा प्रकृति पर अधिकार प्राप्त कर लेना--तीनों सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

व्याख्या :—पहले सूत्र में कह चुके हैं कि मन एवं इन्द्रियों की पाँच अवस्थाओं का संयम करने से मन एवं इन्द्रियों का वशीकार होता है अर्थात् इन्द्रिय जय होता है। इन्द्रियों एवं मन की जीतने से तीन सिद्धियां प्राप्त होती हैं। जैसे—

(१) मनोजयित्व—स्थूल शरीर तथा इन्द्रियों की गति मन के समान हो जाना। क्षण भर में मन देश-विदेश में पहुँच जाता है उसी प्रकार शरीर व इन्द्रियों का जाना मनोजयित्व है। यह ग्रहण अवस्था के संयम से होती है।

(२) विकरण भाव—स्थूल शरीर के बिना ही इन्द्रियों में काम करने की क्षमता होना अर्थात् दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान होना। यह सिद्धि स्वरूपावस्था का संयम करने से प्राप्त होती है। पूर्वोक्त महा-विदेहा धारणा (३।४३) और इस सिद्धि का समान फल है।

(३) प्रधान जय—सम्पूर्ण प्रकृति के कार्यों का वश होना। यह अस्मिता अन्वय और अर्थवत्त्व के संयस से प्राप्त होती है।

उपरोक्त सिद्धियाँ मधु प्रतीक कहाती हैं एवं ग्रहण विषयक समाधि सिद्ध होने पर स्वतः प्राप्त होती हैं। जिस विवेक ख्याति के लिये यह संयम कहे हैं उसी का अवान्तर फल आगे के सूत्र में बताते हैं।

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।।४९।।

सूत्रार्थ—बुद्धि व पुरुष की भिन्नता मात्र का ही केवल ज्ञान होता है उसी योगी को सारे भावों का मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है।

व्याख्या :—बुद्धि के रजोगुण तमोगुण से पैदा हुये संस्कार जब घुल जाते हैं, केवल सतोगुण का प्रकाश उत्पन्न होकर निरन्तर प्रकाशित रहता है, तब विवेक से बुद्धि तथा आत्मा के भिन्न होने का पूर्ण ज्ञान होता है। इसी को विवेक ख्याति कहते हैं इस विवेक ख्याति के हो जाने पर योगी वशीकार, संज्ञा, वैराग्य स्थिति प्राप्त कर लेता है। वही योगी प्रधान व उसके परिणाम रूप सम्पूर्ण पदार्थों का स्वामी हो जाता है एवं सब प्राणियों व पदार्थों के अतीत अनागत वर्तमान में, स्थित गुणों को एक साथ जान लेता है। इस सिद्धि को विशोका कहते हैं इसके प्राप्त होने पर योगी क्लेशों के बन्धन से क्षीण होकर सर्वज्ञ होकर आनन्द से विचरण करता है।

विवेक ख्याति का फल कैवल्य कहते हैं।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।।५०।।

सूत्रार्थ—उसके (विवेक ख्याति) से भी वैराग्य होने पर दोष (क्लेश) बीजों के नाश होने पर कैवल्य मोक्ष होता है।

व्याख्या—विवेक ख्याति द्वारा जब यह ज्ञान हो जाता है कि बुद्धि व पुरुष भिन्न हैं, इनका संयोग अविद्या कृत है, वास्तविक नहीं है,

तो ऐसी स्थिति होने पर पूर्वोक्त सिद्धि प्राप्त होती है। उस सिद्धि को भी झंझट जानकर वैराग्य होने पर (१।१६) बीज रूप जो दग्ध सदृशो सस्कार हैं वह भी नष्ट हो जाते हैं और निर्बीज समाधि अवस्था हो जाती है। उस स्थिति में ब्रह्मानन्द का ही अनुभव होता है, इसी को कैवल्य कहते हैं।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात ॥५१॥

सूत्रार्थ—स्थानियों (देवताओं लोकपालों) के बुलाने पर न तो संग ही रहना चाहिये न अभिमान करना चाहिये, क्यों कि पुनः अनिष्ट (क्लेश) प्राप्त होने की संभावना रहती है।

व्याख्या—शुभ कामों में अनेक विघ्न पैदा होते हैं। योगी की चार स्थिति होती हैं—(१) कल्पिक, (२) मधु भूमिक, (३) प्रज्ञा ज्योति, (४) अतिक्रान्त भावनीय।

(१) कल्पिक—प्रारम्भिक अभ्यासी जो सवितर्क समाधि प्राप्त कर रहे हैं।

(२) मधु भूमिक—जो निर्वितर्क अर्थात् ऋतुम्भरा को प्राप्त करके पंचभूत एवं इन्द्रियों को साक्षात् करके जीतने की इच्छा कर रहे हैं। (१।४३), (३।४४।४७)

(३) प्रज्ञा ज्योति—जिन्होंने भूत इन्द्रियों को जीत लिया है और विशोका अभ्यास में लीन हैं।

(४) अतिक्रान्त भावनीय—वह योगी हैं जिन्होंने मधुप्रतीका विशोका को प्राप्त कर उससे विरक्त होगये हैं, जिनका केवल चित्त का लय होना ही प्रयोजन है। इस योगी के बुद्धि की सात प्रकार की प्रान्त भूमि होती है (२।२७) जिनका पहिले वर्णन कर चुके हैं।

यह चार श्रेणी के योगी होते हैं उनमें से पहिली श्रेणी का योगी देवता आदि से उपनिमन्त्रण (प्रार्थना) किये जाने योग्य नहीं होता। दूसरी श्रेणी के योगी को स्थानीय देवता बड़े आदर से अनेक प्रकार के भोगों व ऐश्वर्यों का प्रलोभन देते हैं। योगी से कहते हैं यहां रहो, यहां रमण करो, यहाँ रमणी स्त्रियाँ सुन्दरी हैं, यह रसायन तुम्हारे लिये है, इसका भक्षण करो, इससे बुढ़ापा मृत्यु नहीं होती। कैसा विमान है, कल्प वृक्ष है, दिव्य कर्ण-नेत्र हैं, वज्र के समान शरीर एवं देवताओं के स्थान हैं। इस प्रकार स्थानीय देवता प्रलोभन देते हैं। इनसे योगी को सावधान रहना चाहिये। यदि इन झंझटों में फँसा तो सब किया हुआ निष्फल जायगा। योगी को यह भावना करनी चाहिए कि मैंने इस घोर संसार में बारम्बार जन्म, मरण क्लेश रूप अन्धकार में वर्तमान यत्न व साधन से जो योग प्रदीप प्रकाशित किया है, उसके लिये यह विषय शत्रु हैं। ऐसा निश्चय करके समाधि में लीन रहे सङ्ग का परित्याग करदे। योगी का देवता जब सत्कार करते हैं, प्रलोभन देते हैं, उसको योगी स्वीकार नहीं करता और अपनी इस सामर्थ्य का अहङ्कार भी नहीं करना चाहिये। यह योग भ्रष्ट का कारण है। यह प्रलोभन देवताओं के दूसरी भूमि वाले योगियों को ही ज्यादातर फन्दे में डाल सकते हैं। अतः दूसरी भूमि वालों को बहुत सावधानी से रहने की आवश्यकता है। तीसरी चौथी भूमि पर तो अभ्यासी इतनी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं कि इनके फन्दे में नहीं आ सकते।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥

सूत्रार्थ—क्षण और उसके क्रम में समय से विवेकज ज्ञान होता है।

व्याख्या—अल्पकाल को क्षण कहते हैं, उसका निरन्तर एक क्षण के बाद दूसरा क्षण होना क्रम है। इसी को योगी काल (समय)

कहते हैं। क्षण और उसका क्रम भिन्न है। क्षणों और उनके क्रमों का समूह दिन, रात, मास आदि बुद्धि के बनाये हुये काल से शून्य है। वस्तु से रहित होने पर भी काल को विकल्प वृत्ति (१।९) द्वारा वस्तु के समान मानते हैं, यह भ्रम है। दो क्षणों का एक साथ होना भी असम्भव है। एक क्षण के बाद या पूर्व में क्षण होता है। भूत, भविष्य क्षण वर्तमान क्षण के ही परिणाम हैं। वर्तमान क्षण से ही सब लोक परिणाम पाते हैं अर्थात् एक क्षण वर्तमान के सब धर्म आश्रित हैं और सारा ब्रह्माण्ड एक क्षण आश्रित है। अस्तु, वर्तमान क्षण और उसका क्रम उनमें संयम करने से विवेक जन्य ज्ञान प्राप्त होता है।

विवेक ज्ञान का लक्षण बताते हैं।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५३॥

सूत्रार्थ—जाति, लक्षणऔर देश भेद से जिन दो वस्तुओं का भेद नहीं ज्ञात होता एवं दोनों वस्तु तुल्य मालूम होती हैं, उनके भेद का ज्ञान विवेक-ज्ञान से ही होता है।

व्याख्या—संसार में जितनी वस्तुऐं हैं उनका भेद समझने के तीन कारण होते हैं-जाति, लक्षण और देश। इन्हीं तीनों से ज्ञान होता है। जो दो पदार्थ एक देश व एक लक्षण वाले हैं उनकी भिन्नता जाति से जानी जाती है जैसे गौ और भैंस, इन दोनों का जाति भेद होता है। जाति देश एक होने पर लक्षण से जानते हैं, जैसे दो गौं एक लाल, दूसरी काली लक्षण से जानते हैं। जो जाति लक्षण में समान हैं उनका देश से ज्ञान होता है जैसे दो आँवरे जो एक जाति और एक लक्षण के हैं उनका भेद देश से पूर्व पश्चिम के देश के हैं मालूम होता है। परन्तु दूसरे की दृष्टि बचाकर पूर्व के आंवरे को पश्चिम में पश्चिम वाले को पूर्व में रखकर जानना चाहे तो देश द्वारा भी भिन्नता का ज्ञान नहीं

होता। जब जाति, लक्षण, देश से भेद नहीं मालूम होता तो योगी को विवेकज ज्ञान से भेद मालूम होता है। अर्थात् लोक को जाति, लक्षण, देश द्वारा पदार्थों का भेद ज्ञान होता है। परन्तु योगियों को बिना जाति, लक्षण, देश के विवेकज ज्ञान से भेद का निश्चय होता है।

विवेक ज्ञान की विशेषता दिखाते हैं।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५४॥

सूत्रार्थ—तारक अर्थात् तारने वाला, सबको जानने वाला, सब प्रकार से जानने वाला, बिना क्रम के एक साथ ज्ञान को विवेकज ज्ञान कहते हैं।

व्याख्या—विवेकज ज्ञान चार लक्षणों वाला है—

(१) तारक—जो बिना किसी के उपदेश किये योगी के हृदय में स्वयं प्रकाशित होता है एवं संसार से तारने वाला है।

(२) सर्व विषयम्—सब तत्वों का विषय करने वाला है, इसके द्वारा योगी सब विषयों को जान लेता है।

(३) सर्वथा विषयम् तत्वों की अवस्था भेद तीनों परिणामों सहित विषय करने वाला।

(४) बिना क्रम के जानने वाला है, यह ज्ञान की अन्तिम गति है। कोई विषय इनमें शेष नहीं रहता। इसी ज्ञान को (१।१६) 'पुरुष ख्याति' कहा है जो पर-वैराग्य का हेतु है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्लम् ॥५५॥

सूत्रार्थ—बुद्धि एवं पुरुष दोनों की समान बुद्धि होने पर कैवल्य स्थिति प्राप्त होती है।

व्याख्या—बुद्धि के रज, तम के मल नष्ट होने पर सतोगुण रूप बुद्धि होती है तब पुरुष का बुद्धि से भिन्न (प्रथक्) होने का बोध होता है। सम्पूर्ण बीज रूप क्लेशों के संस्कार भस्म हो जाते हैं तब पुरुष का शुद्ध रूप भासित होता है। पुरुष अविद्या के कारण दुःख-सुख भोग करता है। इस भोग का अभाव ही पुरुष स्वरूप की शुद्धि है। इस स्थिति में योगी को कैवल्य प्राप्त होता है, चाहे वह सिद्धियों से युक्त हो या न हो। कारण यह है कि जिस योगी के क्लेश बीज दग्ध हो चुके हैं वह ज्ञान पर फिर निर्भर नहीं करता अर्थात् ज्ञान की किसी सिद्धि या विभूति की अपेक्षा नहीं होती। सत्य बुद्धि होने के द्वारा समाधि से ऐश्वर्य मिलना मुख्य प्रयोजन नहीं है मुख्य तो परमार्थ है। कैवल्य के लिए विवेक ज्ञान अत्यावश्यक है। ज्ञान से अविद्या का नाश अविद्या नाश से क्लेशों का नाश, क्लेशों के नष्ट होने से कर्म फलों की निवृत्ति होती हैं। उस स्थिति में कर्तव्यों से मुक्त गुण दृश्य के भाव में पुरुष के सन्मुख प्रकट नहीं होते। यही कैवल्य है। उस समय पुरुष स्वरूप मात्र अपनी ही ज्योति में निर्लिप्त बन जाता है। कैवल्य के ही पर्यायवाची अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, स्वरूपावस्थिति, परमधाम आदि हैं।

।। इति पातञ्जल योग-दर्शन विभूतिपाद समाप्त ।।

कैवल्यपाद-४

[प्रथम पाद में योग स्वरूप—समाधि, दूसरे में साधन, तीसरे में सिद्धियाँ बतला कर चौथे पाद में कैवल्य का वर्णन करते हैं। तीसरे पाद में अनेक सिद्धियों की प्राप्ति केवल समाधि द्वारा ही वर्णन की गई है। किन्तु वह सिद्धियाँ अन्य कारणों से भी प्राप्ति हो सकती हैं, उसको बताते हैं]

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥१॥

सूत्रार्थ—जल, औषधि, मन्त्र, तप, और समाधि से सिद्धियाँ होती हैं।

व्याख्या—शरीर, चित्त एवं इन्द्रियों की साधारण स्थिति में विलक्षण परिवर्तन होना सिद्धि है, उसके पाँच कारण हैं—१. जन्म २. औषधि, ३. मन्त्र, ४. तप, ५. समाधि। इन कारणों के भेद से सिद्धियाँ भी पाँच प्रकार की होती हैं—

(१) जन्मजा-सिद्धि—पूर्व जन्म के शरीर से सम्पादित होकर इस जन्म में बिना श्रम के प्राप्त हो जाती है। इन सिद्धियों में केवल जन्म ही कारण है। मनुष्य धर्माचरण व्रत एवं पुण्य विशेष करता हुआ शरीर त्यागने पर देव जन्म प्राप्त करता है। देव योनि के कारण दिव्य शरीर एवं अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अथवा कपिल, वेद व्यास, शुकदेव आदि महर्षियों ने पूर्व जन्म के संस्कारों से ही जन्मजा-सिद्धि प्राप्त की। इसी तरह पक्षियों का आकाश में उड़ना, मछलियों का जल में तैरना जन्मजा-सिद्धि है।

(२) औषधिजा सिद्धि—रसायनों से जरा, मरण निवारण करना तथा शरीर में विलक्षण शक्ति प्राप्त करना, सोमरस आदि का सेवन कर वृद्ध से युवा होना, जैसे, च्यवन ऋषि ने प्राप्ति की।

(३) मंत्रजा सिद्धि—मंत्र जप अनुष्ठान से चित्त में एकाग्रता भाव होकर सिद्धि प्राप्त होना एवं आकाशगमनादि होना।

(४) तपजा-सिद्धि—शास्त्रोक्त तप द्वारा अनुष्ठान करने पर इन्द्रियों का निरोध हो जाना चित्त की एकाग्र अवस्था होना आदि।

(५) समाधिजा-सिद्धि—अनेक पदार्थों में समय आदि द्वारा जो तीसरे पाद में वर्णन की हैं जैसे समाधि द्वारा चित्त कैवल्य के उपयुक्त होता है। इस प्रकार सिद्धियों के पाँच भेद हैं।

अन्य भाष्यकारों ने जन्मजा आदि सिद्धियों को इस प्रकार कहा है कि पूर्व जन्म में अभ्यस्त समाधि के बल से ही सिद्धि इस जन्म में होती हैं। जन्म औषधि केवल निमित्त मात्र हैं। इन सिद्धियों में, शरीर, इन्द्रिय, चित्त में विलक्षण शक्ति होना परिणामान्तर है, इसी को जाति-अन्तर परिणाम कहते हैं। जात्यन्तर परिणाम कैसे होता है अगले सूत्र में कहते हैं।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥२॥

सूत्रार्थ—जात्यन्तर परिणाम (एक जाति से दूसरी बदल जाना) प्रकृति के पूर्णता से होता है।

व्याख्या—शरीर, इन्द्रियों आदि का औषधि मंत्रादि से एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना जात्यन्तर परिणाम है, यह परिणाम प्रकृति की पूर्णता से होता है। पृथिवी आदि पंचभूत शरीर की प्रकृति हैं, अस्मिता इन्द्रियों की प्रकृति है, इन प्रकृतियों का कारण-रूप से कार्य रूप अवयवों के आकार में प्रवेश करना 'आपूर' है। इसी 'प्रकृत्या-पूर' द्वारा जात्यन्तर परिणाम होता है। योगी के शरीर इन्द्रियों आदि के पहिले राजसी-तामसी भाव दूर होकर ज्यों-ज्यों उनकी जगह सात्विक अवयव भरते जाते हैं, त्यों-त्यों शरीर, इन्द्रियाँ आदि की विलक्षण शक्ति होती जाती है। इस तरह दूसरी जाति एवं जात्यन्तर परिणाम होता

है। जैसे अग्नि के एक कण को सूखे तृण में डालने पर अग्नि के अपूर्व अवयवों का समूह देशव्यापी प्रचंड रूप हो जाता है वैसे ही योगी के रजत्तम दष्ट होने पर सतोगुणी अवयव भरते जाते हैं, वह जात्यन्तर 'प्रकृत्यापूर' से होता है।

पहले कहे हुये जन्मादि निमित्त कारण से प्रकृतियों की पूर्णता कैसे हो सकती है ? क्या वे प्रकृतियों के चलाने वाले हैं, इसी को अगले सूत्र में कहते हैं।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥३॥

सूत्रार्थ—धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का प्रेरक नहीं किन्तु उससे किसान की तरह रुकावट दूर होती है।

व्याख्या—धर्माधि निमित्त प्रकृतियों (कारणों) के प्रवंतक नहीं हैं क्योंकि वे तो प्रकृति के कार्य हैं। कार्य, कारण का प्रवंतक नहीं होता, जैसे घट-रूप कार्य अपने कारण मिट्टी दंड जल आदि का प्रवंतक नहीं होता, क्योंकि घट की उत्पत्ति चक्रादि कारणों से होती है। धर्म प्रकृतियों के आवरण प्रतिवन्धक अधर्म को नष्ट कर देता है, फिर प्रकृतियां स्वयं अपने काम को नये अवयवों से भर देती हैं। जैसे किसान जल से एक क्यारी को भर कर दूसरी क्यारी में ले जाना चाहता है तो पहली क्यारी का मुँह, पानी जाने का रास्ता, बंद कर देता है दूसरी क्यारी का मुँह खोल देता है तो पानी स्वयं दूसरी क्यारी में भर जाता है। इसी प्रकार धर्म प्रकृतियों के आवरण प्रतिबन्धक अधर्म को नष्ट कर देते हैं। पुनः प्रकृतियाँ स्वयं अपने-अपने कार्य को नये अवयवों से भर देती हैं। कमी को पूर्ण कर देना प्रकृति का स्वभाव है।

निर्माण चित्तान्यस्मिता मात्रात ॥४॥

सूत्रार्थ—अस्मिता मात्र से निर्माण चित्त होते हैं।

व्याख्या—योग द्वारा बनाये गये चित्त को निर्माण चित्त कहते हैं। योगी अस्मिता मात्र से निर्माण चित्तों को अपने संकल्प से बनाता है। इन निर्माण चित्तों से योगी के बनाये हुये सब शरीर चित्तसंयुक्त होते हैं।

बहुत चित्तों के भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से योगी को योग की सिद्धि नहीं हो सकती। यह अगले सूत्र में बताते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

सूत्रार्थ—प्रवृत्ति भेद में एक चित्त अनेकों का प्रवर्तक होता है।

व्याख्या—जिस प्रकार मन अपने शरीर का अधिष्ठाता बनकर अपने शरीर में इन्द्रियों को भिन्न-भिन्न कामों में नियुक्त करता है, उसी तरह अनेक चित्तों के प्रवर्तक योगी का स्वाभाविक चित्त है। इन सभी चित्तों की प्रवृत्तियाँ उसी योगी के अधिष्ठाता चित्त के आधीन हैं।

पहिले बताये हुये पाँच प्रकार के सिद्ध चित्तों में से समाधि द्वारा सिद्ध चित्त की विशेषता कहते हैं।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६॥

सूत्रार्थ—उनमें ध्यान जनित चित्त कर्म संस्कारों रहित होता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त जन्म, औषधि, मंत्र, तप, समाधि से उत्पन्न जो पाँच प्रकार के सिद्ध निर्माण चित्त हैं, उसमें केवल समाधि से उत्पन्न चित्त, वासना और संस्कारों से रहित है। अन्य चार जन्म, औषधि, मंत्र, तप से उत्पन्न में सिद्ध निर्माण चित्तों की वासनायें रहती हैं। अतः केवल समाधि से उत्पन्न चित्त कैवल्य का कारण हो सकता है, शेष चार नहीं हो सकते हैं।

कर्माशय शून्य सिद्ध योगी के कर्मों की विलक्षणता कहते हैं।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनास्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

सूत्रार्थ—योगी का कर्म (अशुक्ल अकृष्ण) निष्काम एवं दूसरों का तीन प्रकार का होता है।

व्याख्या—कर्म के चार भेद हैं—१. कृष्ण, २. शुक्ल, ३. कृष्ण-शुक्ल, ४. अकृष्ण-अशुक्ल।

(१) कृष्ण (पाप) कर्म—हिंसा, चोरी व्यभिचार आदि पाप-रूप कर्म दुराचारी मनुष्यों में होते हैं और नरकादि दुःखों के कारण हैं।

(२) शुक्ल-(पुण्य) अहिंसा, परोपकार, स्वाध्याय, तप, ध्यान आदि यह पुण्य-कर्म धर्मात्माओं में होते हैं, जिनका फल सुख भोग है।

(३) कृष्ण-शुक्ल—कुछ पाप और कुछ पुण्य कर्म, जो साधारण मनुष्यों में होते हैं।

(४) अशुक्ल-अकृष्ण—निष्काम एवं वासना रहित शुद्ध योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण अर्थात् वासनारहित निष्काम होते हैं। साधारण मनुष्यों के कर्मफल वासनाओं से युक्त हैं। योगी लोग सब कर्मफलों को ईश्वर के अर्पण कर तथा विवेक ज्ञान से ईश्वर चिंतन करते हैं।

ऊपर कहे हुये साधारण मनुष्यों के तीन प्रकार के कर्मों का फल अगले सूत्र में कहते हैं।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥८॥

सूत्रार्थ—इन त्रिविध कर्मों से उनके फल भोगानुकूल वासनाओं की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—साधारण मनुष्य फलों की इच्छा से सकाम कर्म करते हैं उन कर्मों के अनुकूल ही उनकी वासनाऐं उत्पन्न होती हैं। इस तरह अनेक जन्मों की वासनाऐं संस्कार रूप से अन्त करण में संग्रहीत रहती हैं, यह दो प्रकार की होती हैं। १. स्मृति मात्र फल वाली, २. जाति,

आयु, भोग फल वाली। कर्मानुसार ये वासनायें प्रकट होती हैं। जैसे कर्म फल से मनुष्य का जन्म होता है वैसी ही स्मृति वासनायें दूसरी वासनाओं को, जो संस्कार रूप से अनेक जन्मों की संग्रहीत हैं, मनुष्य जाति आयु भोग फलवाली वासनाओं को जगा देती हैं। अन्य वासनायें चित्त भूमि में सोती हुई दवी रहती हैं। यदि कर्मों का फल पशु योनि है तो स्मृति वासनायें उस जन्म की वासनाओं को जगा देती हैं और दूसरी फल देने लगती हैं। इसका २।१२।१३ से विस्तार से वर्णन किया है।

अनेक जन्मों के अनेक संस्कार वर्तमान जन्म के अनुरूप फल की वासनाओं को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं, यही अगले सूत्र में कहते हैं।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंकारयो-
रेकरूपत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थ—जाति, देश और काल भेद होने पर भी कर्म के संस्कारों में भेद नहीं होता, क्योंकि स्मृति और संस्कार एक रूप होते हैं अर्थात् समान विषय वाले होते हैं।

व्याख्या—अनेक जन्मों के अनन्त संस्कारों के अनुकूल देश, जाति, काल भेद से अनेक वासनायें कर्माशय में सूक्ष्म रूप से स्थिति रहती हैं। जैसी वासनायें होती हैं वैसी स्मृति होती है। स्मृति से संस्कार होते हैं। संस्कार कारण रूप और स्मृति कार्य रूप हैं, अतः कार्य कारण का अभेद होने से एवं दोनों का समान विषय होने से एक रूप होता है क्योंकि जिस कर्म जाति का विपाक होता है उसी सजातीय कर्म विपाक के ही योग्य संस्कार व स्मृति रूप वासनायें प्रकट होती हैं। जैसे कर्म विपाक से गौ की पशु योनि प्राप्त हो तो उसने गौ की योनि जब कभी पाई हो उस जन्म के बाद कितने ही जन्म बीत चुके हों चाहे कितना ही समय बीत गया हो या किसी भी देश में जन्म हुआ हो किन्तु उसी जाति वाली

वासनायें प्रकट हो जाती हैं। उनके प्रकट होने में जाति, देश, काल रूकावट नहीं डाल सकते। वासनाओं के प्रकट होने का कारण जाति देश काल का निकट होना नहीं है। उनके प्रकट करने वाला अपना-अपना कारण है क्योंकि स्मृति संस्कारों की एकता के कारण फल मिलता है, उसी के अनुसार भोग वासना उत्पन्न होती है। विजातीय कर्मफल विजातीय वासनाओं के उदय होने का कारण नहीं होता।

जब वासनाओं के अनुसार जन्म होता है और कर्म के अनुसार वासनायें होती हैं तो सबसे पहिले जन्म की वासना कैसे हुई, यह कहते हैं।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—आशीर्वाद के नित्य होने से वासना भी नित्य है।

व्याख्या—सभी देहधारी जीव अपने जीवन की यह अभिलाषा करते हैं कि सर्वदा रहें, हमारा कभी नाश न हो, हमारे सुख साधन सदैव बने रहें। यह जो अपनी आत्मा का आशीर्वाद है, वह सब वासनाओं का कारण है। इस आशीष के नित्य होने से वासनायें भी नित्य अनादि हैं। हर देहधारी मृत्यु दुःख से डरता है, तुरन्त जन्मे बालक में भी मरण का दुःख पाया जाता है। उसके चेहरे की विकृति एवं डर कंप आदि जो होते हैं, उनसे उसके पूर्व जन्म के द्वेष, राग, मरण-त्रास का अनुमान होता है। पूर्व जन्म के मरण-दुःख की स्मृति वासनाओं से जन्मान्तर में उत्पन्न बालक की मुखाकृति बिगड़ना, काँपना आदि होते हैं। इससे सब वासनाओं का अनादि होना सिद्ध होता है। कोई यह शंका करे कि तुरन्त जन्मे बालक की मुखाकृति बिगड़ना स्वाभाविक है यह बात नहीं है, क्योंकि तुरन्त जन्मे बालक ने इस जन्म में किसी भी प्रमाण से मरने के दुःख का अनुभव नहीं किया है, वह भी पीछे होने वाले दुःख के अनुभव से स्मृति के निमित्त मरण त्रास से द्वेष करता है। स्वाभाविक वस्तु स्मृति के आश्रय नहीं होती। इस कारण यह चित्त निमित्त वश से अनादि

वासनाओं से बँधा है। किन्हीं वासनाओं को प्राप्त होकर पुरुष भोगने के लिये प्रवृत्त होता है। मरण-त्रास स्वाभाविक आत्मा में नहीं है। मरणत्रास चित्त को होता है। चित्त अनादि वासनाओं से बँधा है, अतः वासनाओं का अनादि नित्य होना सिद्ध है।

यदि वासनायें अनादि हैं तो उनका अभाव होना असम्भव है। विना अभाव पुरुष कैसे मुक्त हो सकता है इसको कहते हैं।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगहोत्वादेषामभावे
तदभावः ॥११॥

सूत्रार्थ—हेतु, फल, आश्रय, आलम्बन से वासनाओं का संग्रह एवं इनके अभाव होने में उन (वासनाओं) का अभाव होता है।

व्याख्या—(१) हेतु—अविद्या आदि क्लेश कृष्ण, शुक्ल तथा दोनों मिश्रित सकाम कर्म हेतु हैं। (२) फल—पुनर्जन्म आयु तथा भोग है (३) आश्रय—चित्त है। (४) आलम्बन—इन्द्रियों के शब्दादि विषय हैं। वासनायें अनादि अनन्त होने पर भी हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के सम्बन्ध से संगृहीत हो रही हैं और इन चारों के अभाव में नाश हो जाती हैं। योगी जब समाधि साधन से तत्वज्ञान (विवेक ख्याति) प्राप्त करता है, उसी से अविद्या का नाश हो जाता है (४।३०)। अविद्या का नाश होने से कर्मों के फल देने की सामर्थ्य नहीं रहती चित्त अपने कारण में लीन हो जाता है। (४।२४) और विषयों के साथ पुरुष का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार हेतु, फल, आश्रय, आलम्बन का अभाव होने पर वासनाओं का स्वतः अभाव हो जाता है। इसी कारण योगियों का पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि वासनायें नष्ट हो जाती हैं।

किसी सत् वस्तु का कभी नाश नहीं होता तो वासना और उनके हेतु आदि का नाश कैसे हो सकता है इसी को कहते हैं।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥१२॥

सूत्रार्थ—धर्मों में काल भेद होता है। इस कारण जो धर्म (अविद्या, वासना, चित्त और चित्त की वृत्तियाँ आदि) अतीत हो गये हैं और जो अनागत हैं, अभी प्रकट नहीं हुए हैं वे भी स्वरूप से विद्यमान रहते हैं।

व्याख्या—सत् वस्तु का कभी नाश नहीं होता अर्थात् वासनायें और उनके हेतु का नाश नहीं, अभाव हो जाता है यानी वर्तमान अवस्था को छोड़कर भूत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। धर्मी में धर्म सदा रहते हैं, अनागत अवस्था में अपना काम प्रकट नहीं करते, वर्तमान अवस्था में अपना काम प्रकट करते हैं। कार्य बन्द करने पर अतीत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। अतीत अनागत अवस्थाओं में अपने कारण में लीन रहते हैं, व्यक्त नहीं रहते। कारण में लीन हो जाना ही उनका अभाव है। योगी का कारणलीन वासनाओं से सम्बन्ध विच्छेद होने के कारण पुनर्जन्म नहीं होता। अभाव शब्द का अभिप्राय: नाश होना नहीं है। अभाव पांच प्रकार का होता है—(१) उत्पत्ति से पहले—जैसे घर की उत्पत्ति से पहले घर का अभाव होता है। (२) प्रध्वंसा भाव—विद्यमान वस्तु का अभाव जैसे मुगदर से वस्तु का टूट जाना अभाव है। (३) अन्योन्याभाव—जैसे घर का वस्त्र में अभाव। (४) अत्यन्ताभाव-जैसे वन्ध्या के पुत्र होना जो पुत्र न उत्पन्न हुआ है और न हो सकता है। (५) सामयिका भाव—जैसे घट का एक से स्थान दूसरे स्थान पर चला जाना। अतः यहाँ अभाव शब्द सामयिकाभाव है। घट के एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने से उसका नाश नहीं होता क्योंकि दूसरे स्थान पर अपने स्वरूप से विद्यमान है। इसलिये भाव से अभाव नहीं होता, इसी प्रकार वासनाओं का नाश नहीं होता, भूत अवस्था में अव्यक्त हो जाती हैं, अपना कार्य समाप्त कर देती हैं।

धर्मों का असली रूप अगले सूत्र में बताते हैं।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥१३॥

सूत्रार्थ—**वे धर्म व्यक्त एवं सूक्ष्म स्थिति में गुण स्वरूप हैं।**

व्याख्या—धर्मी में धर्म सदा मौजूद रहते हैं, धर्म तीनों मार्ग वाले हैं—अतीत वर्तमात, अनागत। अर्थात् वर्तमान मार्ग में व्यक्त (स्थूल) प्रकट होने वाले होते हैं, अतीत अनागत में छिपे रहने वाले होते हैं। ये सारे धर्म महत्तत्त्व से लेकर स्थूल भूतों पर्यन्त तीनों गुणों के ही परिणाम विशेष हैं। यथार्थ में देखा जाय तो सब पदार्थ महत्तत्त्व से लेकर भूत (भौतिक) तक गुणों का संनिवेश मात्र होने से गुण स्वरूप ही हैं। अर्थात् पृथ्वी आदि स्थूल भूत पंचतन्मात्रा स्वरूप हैं। पंचतन्मात्रा तथा एकादश इन्द्रियाँ अहंकार स्वरूप हैं। अहंकार महत्तत्त्व स्वरूप है। महत्तत्त्व प्रधान (मूल प्रकृति) स्वरूप है। प्रधान गुण त्रय स्वरूप है। इस प्रकार परम्परा से यह सारा प्रपंच गुणस्वरूप ही है। गुणों का असली स्वरूप नहीं दृष्टिगोचर होता, जो दृष्टिगोचर होता है इन्द्रजाल के समान तुच्छ एवं विनाशी है। अतः यह सब कार्य गुणत्रयात्मक रूप अपने कारण प्रधान स्वरूप ही हैं।

तीनों गुण ही सम्पूर्ण पदार्थों के कारण हैं तो पदार्थों को अलग-अलग धर्मी कैसे कह सकते हैं, सो कहते हैं।

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्वम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—परिणाम एक होने से वस्तु की एकता होती है।

व्याख्या—अनेक गुणों का आपस में भिन्न स्वभाव होने पर भी एक परिणाम हो सकता है। सब मिल जुलकर जब किसी एक वस्तु के रूप में परिणत होते हैं तब वैसा होने में कोई विरोध नहीं है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के एक परिणाम से एक वस्तु का प्रकट होना प्रत्यक्ष देखने में भी आता है, जैसे परस्पर विरोधी तैल, बत्ती, अग्नि का एक दीपक परिणाम होता है। नमकीन भूमि पर फेंकी हुई हाथी घोड़े की हड्डियों का नमक

परिणाम होता है। पृथ्वी और जल मिल कर सूर्य और चन्द्रमा की किरण के सम्बन्ध से वृक्ष के रूप में परिणाम हो जाते हैं। उसमें फिर नाना जाति, नाना आकार और नाना व्यक्तित्व का भेद हो जाता है। परन्तु वस्तुतः अपने धर्मियों से सर्वथा अभिन्न हैं। इसी प्रकार सब वस्तुयें गुण स्वरूप ही है, उनसे अलग नहीं हैं।

जिस प्रकार स्वप्न में चित्त के अतिरिक्त और कोई वस्तु भाव-रूप से नहीं होती है उसी से सब कल्पित होते हैं। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी चित्त से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, सब चित्त की ही रची हुई हैं। चित्त अनादि वासनाओं से चित्रित है, इस कारण उसको अपनी अपनी वासनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुयें प्रतीत होती हैं। वास्तव में चित्त से भिन्न कोई बाहर वस्तु नहीं है यह बताते हैं।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

सूत्रार्थ—वस्तु के एक होने में भी चित्त के होने से उन दोनों का स्वरूप (मार्ग) भिन्न-भिन्न है।

व्याख्या—वस्तु के एक होने में भी मनुष्य की विभिन्न चित्त वृत्तियां विभिन्न प्रकार से बनती हैं अर्थात् एक ही वस्तु अनेक चित्तों का विषय बनती है। एक स्त्री की सुन्दरता में अनेक देखने वालों के चित्त की भिन्नता सुख, दुःख, मोह रूप से प्रतीत होती है। जैसे एक सुन्दर स्वरूप वाली स्त्री मिल जाय तो कामी का चित्त सुखी होता है, उसी स्त्री की सौत का चित्त उससे दुःखी होता है और संयासी का चित्त उससे उदासीनता करता है। जब एक ही वस्तु में अनेक प्रकार की चित्त वृत्तियाँ होती हैं तो स्त्री आदि चित्त के कार्य नहीं हैं। यदि एक चित्त के कार्य हों तो एक ही रूप से ज्ञान हो। दूसरी बात यह है कि वस्तु को चित्त का कार्य माना जाय तो जिस पुरुष के चित्त का कार्य वह वस्तु है उसके चित्त के दूसरी वस्तु में लग जाने पर वह वस्तु कोई

वस्तु ही न रहे। यदि कहो कि वह वस्तु नहीं रहती तो अन्य पुरुषों को वह कैसे मालूम होती है ? प्रतीत होने से। वस्तु चित्त का कार्य नहीं है। यदि माना जाय कि बहुत से चित्त मिलकर एक वस्तु को उत्पन्न करते हैं तो बहुतों की बनाई हुई चीजों से एक चित्त की बनाई हुई चीज विलक्षण होनी चाहिये। यदि विलक्षण नहीं मानते तो कारणों से भिन्न-भिन्न होने पर भी कार्य का भेद न रहने से जगत को बिना कारण के अथवा एक रूप मानना होगा। बात यह है कि यदि कारणों के भिन्न होने पर भी कार्य भिन्न न माने जायें तो सब जगत जो कि, अनेक कारणों से उत्पन्न हुआ है वह एकाकार होना चाहिये, अथवा कारण विशेष का सम्बन्ध न रहने से स्वतन्त्रता के कारण शून्य होना चाहिये। परन्तु वह नहीं है अतः वस्तु समान होने पर चित्तों के भेद से भिन्न मानना नहीं होगा।

पूर्वोक्त का खण्डन करते हुये दूसरा सूत्र कहते हैं।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—एक चित्त के अधीन भी दृश्य वस्तु नहीं है, क्योंकि जब वह चित्त का विषय नहीं रहेगी उस समय वस्तु का क्या होगा ?

व्याख्या—दृश्य वस्तु किसी एक चित्त से आधीन नहीं रहती है और चित्त से भिन्न सत्य है। यदि एक चित्त के आधीन वस्तु को मानें तो जब चित्त अन्य विषय में प्रवृत्त हो या विरुद्ध हो गया हो तो उस समय वस्तु का अभाव हो जाना चाहिये किन्तु यह मौजूद रहती है और ज्यों का त्यों रूप रहता है। जैसे—दृश्य घट को देखने वाला चित्त वस्तु में संलग्न होकर घट को नहीं देखता अथवा शरीर का भाग पीठ आदि नहीं देखता तो वह अन्य जनों को प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये।

किन्तु प्रत्यक्ष विद्यमान रहती है। अतः वस्तु की सत्ता स्वतन्त्र है। चित्ताधीन नहीं हैं एवं चित्त भी स्वतन्त्र है वस्तु और चित्त का सम्बन्ध भोग है।

जब दृश्य वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता है तो इसका क्या कारण है कि वह दीखती है और कभी नहीं दीखती ? इसको अगले सूत्र में कहते हैं।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—चित्त वस्तु विषय के उपराग (चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा करने वाला होने से ज्ञात-अज्ञात होती है।

व्याख्या—इन्द्रियों के सम्बन्ध से जिस वस्तु की चित्त में परछाई पड़ती है, वही चित्त को ज्ञात होती है, इससे भिन्न अज्ञात रहती है। उपराग उसको कहते हैं जो इन्द्रियों के सम्बन्ध से चित्त में परछाई पड़ती है। चुम्बक के समान वस्तु तथा विषय होते हैं। जिस तरह जड़ चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता हैं उसी प्रकार विषय तथा वस्तु चित्त को अपनी ओर खींच लेते हैं। जो वस्तु, विषय, चित्त को आकर्षण करके अपने उपराग से युक्त करती है, वह ज्ञात होती है। अर्थात् चित्त विषयाकार है तो वस्तु ज्ञात है अन्यथा अज्ञात है। वस्तु के ज्ञात-अज्ञात होने के कारण चित्त बदलने वाला (परिणामी) सिद्ध होता है।

दृश्य वस्तुओं अर्थात् बाह्य जगत को चित्त से भिन्न सिद्ध करके अब द्रष्टा पुरुष से भी चित्त की भिन्न सत्ता सिद्ध करने को अगले सूत्र में कहते हैं।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥१८॥

सूत्रार्थ—चित्त के प्रभु के (पुरुष के) परिणामी न होने से चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं।

व्याख्या--चित्त का बाह्य जगत की वस्तुओं के साथ सम्बन्ध होने पर उन वस्तुओं का ज्ञान होता है, किन्तु जब सम्बन्ध नहीं रहता, तब वही वस्तु अज्ञात हो जाती है। कभी बाह्य विषयों को जानता है कभी नहीं जानता। इस प्रकार चित्त परिणामी है। उसका कार्य यह है कि जिस वस्तु से सम्बन्ध रखता है उसके रूप में परिणत होकर उसके स्वरूप को अपने प्रभु पुरुष के सन्मुख उपस्थित कर देता है। पुरुष को चित के ऐसे परिणाम का सदा ही ज्ञान रहता है। इस ज्ञान से पुरुष में चित्त की तरह कोई परिणाम नहीं होता अतः पुरुष परिणामी नहीं है। यदि परिणामी पुरुष को मानते हैं तो भूतकाल में भोगे हुए विषय को स्मरण न कर सकता क्योंकि जिस पुरुष ने भोग किया वह न रहता तथा अपने चित्त की वृत्तियों को सदा न जान सकता। इन कारणों से पुरुष परिणामी नहीं है। अगर यह शंका हो कि चित्त जड़ है उसमें ज्ञान नहीं हो सकता, तो इसका समाधान यह है कि जड़ लोह पिंड में अग्नि के प्रवेश होने से लोहा भी प्रकाश रूप होता है, उसी तरह ज्ञान रूप पुरुष के साथ योग्यता सम्बन्ध होने से चित्त में ज्ञान का होना सही है। किसी जगह चित्त को प्रकाश रूप भी कहा है। उसका कारण यह है कि शुद्धता से प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की इसमें शक्ति है, इसलिये प्रकाश रूप कहते हैं। चित्त अग्नि की तरह स्वयं प्रकाशक एवं वस्तु का भी प्रकाशक है। अतः चित्त से अतिरिक्त अन्य पुरुष को मानने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी को अगले सूत्र में कहते हैं।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥१९॥

सूत्रार्थ—दृश्य होने से चित्त स्वप्रकाशक नहीं है।

व्याख्या—दृश्य पदार्थ दृष्टा से प्रकाश्य होते हैं अर्थात् जाने जाते हैं। जैसे–अन्य इन्द्रियाँ व शब्द आदि दृश्य होने से अपने आप ही प्रकाश करने वाले अर्थात् जानने वाले नहीं हैं, इसी तरह चित्त व मन आप से प्रकाशित नहीं होता किन्तु उसका प्रकाशक पुरुष है। अग्नि का दृष्टान्त

उपयुक्त नहीं होता क्योंकि अग्नि जड़ है, उसको स्वयं अपना ज्ञान नहीं होता, अन्य पुरुष द्वारा ज्ञान होता है। ज्ञाता-ज्ञेय के सम्बन्ध बिना ज्ञान रूप प्रकाश नहीं होता। प्रकाश क्रिया रूप है। क्रिया बिना कर्त्ता, कारण व कर्म के नहीं होती। जैसे --पकाने की क्रिया कर्त्ता (पकाने वाले) कारण (अग्नि) कर्म (चावल) के बिना नहीं होती है। इसी प्रकार देहधारियों को अपने चित्त बुद्धि के व्यापार व ज्ञेय वस्तु के संयोग से यह बोध होता है, मैं डरता हूँ, इसमें मेरी प्रीति है आदि। इससे यह मालूम होता है कि चित्त की इस स्थिति को देखने वाला अन्य चेतन पुरुष है। यह चित्त स्वाभाव अपने स्वरूप का स्वयं प्रकाशक नहीं है, पुरुष से प्रकाश्य है।

कोई शंका करे कि चित्त ही विषय का ज्ञान कराता है और अपना भी ज्ञान कराता है उसको कहते हैं।

एकसमये चोभयानवधारणम ॥२०॥

सूत्रार्थ—एक समय में दोनों (विषय और चित्त का ज्ञान) नहीं हो सकता है।

व्याख्या—चित्त एक क्षण में अपने तथा दृश्य पदार्थ के स्वरूप को धारण नहीं कर सकता अर्थात् एक घट पदार्थ का ज्ञान दूसरा घट विषय वाले चित्त का ज्ञान, नहीं हो सकता। क्योंकि चित्त परिणाम-शील है। जब अविद्या से चित्त में प्राप्त क्रोध आदि को पुरुष अपने में मानता है उस स्थिति में अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। विवेक होने पर अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। इससे प्रकाशक, प्रकाश्य एवं व्यापार भेद प्रकट होता है। तथा चित्त स्वप्रकाश्य नहीं, चित्त का कार्य बाह्य वस्तु के स्वरूप को अपने स्वामी द्दष्टा के सन्मुख रखने का है, उसे जानने का कार्य पुरुष का है। अर्थात् चित्त के अतिरिक्त इसका साक्षी अन्य चेतन पुरुष है।

यदि एक चित्त विषय ग्रहण करने वाला, दूसरा इसको (सविषयी

चित्त को) भी ग्रहण करने वाला माने तो विषय और चित्त दोनों का ज्ञान हो सकता है। उसके लिये अगले सूत्र में बताते हैं।

चित्तान्तरदृश्येबुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मति संकरश्च ॥२१॥

सूत्रार्थ—एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मानने में फिर वह चित्त दूसरे चित्त का दृश्य होगा इस तरह अनवस्था दोष होगा और स्मृतियों का मेल होने से गड़बड़ होगी।

व्याख्या—यदि चित्त को भी दृष्टा और दृश्य मानें अर्थात् एक चित्त ने एक विषय ग्रहण किया, दूसरे चित्त ने विषय सहित पहले चित्त को जाना, इसी तरह दूसरे को तीसरे चित्त ने, तीसरे को चौथे ने इस प्रकार एक विषय का ज्ञान समाप्त नहीं होगा और अनवस्था दोष होगा। तथा अनेक ज्ञानों की एक क्षण में स्मृति होने से यह निश्चित नहीं हो सकता कि कौन से ज्ञान का क्या स्वरूप है ? यह स्मृतियों के मेल में गड़बड़ी होगी, अर्थात् जितनी बुद्धियों का अनुभव है उतनी ही स्मृति होगी, यह धारणा न हो सकेगी कि यह स्मृति किसकी है ? दूसरी बात यह है कि सभी 'यह कहते हैं कि अमुक वस्तु को मैंने जाना। यह कोई नहीं कहता कि अमुक वस्तु को, उसके ज्ञान को, फिर उसके ज्ञान सहित ज्ञान को जाना', इत्यादि। इस कारण चित्त के अतिरिक्त दृष्टा पुरुष को मानना ही पड़ेगा। पुरुष तो असंग निर्विकार अर्थात् क्रिया रहित अपरिणामी है। किसी विषय को ग्रहण करने में क्रिया परिणाम दोनों होते हैं। फिर पुरुष चित्त के विषय का ज्ञान किस प्रकार कर सकता है, यही अगले सूत्र में कहते हैं।

चितरेप्रतिसंक्रमायास्तदाकारपत्तौ स्वबुद्धि संवेदनम् ॥२२॥

सूत्रार्थ—यद्यपि चेतन पुरुष निष्क्रिय (क्रिया रहित) निर्विकार है तो भी बुद्धि रूप हो जाने पर अपने चित्त का ज्ञान होता है।

व्याख्या—यद्यपि यह बिल्कुल सत्य है कि चेतन पुरुष क्रिया एवं परिणाम रहित किसी विषय से सम्बन्ध होने से निसंग है तो भी विषयाकार अर्थात नाना प्रकार के दृश्य पदार्थों के प्रतिबिंब से तदाकार हुये परिणामी चित्त में प्रतिबिंबित हुआ तदाकार होकर बुद्धि वृत्ति का अनुसारी हो जाता है। इस तरह चैतन्य प्रतिबिंबित ग्राहिणी चित्त वृत्ति के अनुकार मात्र होने से अभिन्न हुआ वह चेतन ज्ञान वृत्ति कहा जाता है। जैसे निर्मल जल में प्रतिबिंबित हुये चन्द्रमा में अपनी चंचलता के न होने पर भी जल रूप उपाधि की चंचलता से अपनी चंचलता दीखती है, उसी तरह चित्त प्रतिबिंबित चेतन पुरुष केवल प्रतिबिंबाधार चित्त के विषयाकार होने से उसी के आकार जैसा मालूम होता है। वास्तव में तो पुरुष न तो ज्ञाता है न भोक्ता है वह तो सर्वथा निर्विकार असंग है।

अगले सूत्र में इसका कारण बताते हैं।

दृष्टदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थिकम् ॥२३॥

सूत्रार्थ—दृष्टा और दृश्य से राग को प्राप्त चित्त सब अर्थ वाला हो जाता है।

व्याख्या—चित्त का यह नियम है कि जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है उसे रङ्ग में रङ्गकर तदाकार हो जाता है। चित्त तीनों गुणों की प्रथम सात्विक परिणाम क्रियाशील एवं परिणामी जड़ सात्विकता के कारण मणि की तरह उज्जवल है। चित्त का यह अपना स्वरूप है—चेतन पुरुष दृष्टा है। शब्द स्पर्श आदि विषय अचेतन दृश्य हैं। ये सब चेतन अचेतन चित्त के विषय होते हैं चित्त उपरत होता है एवं जिसके साथ सम्बन्ध युक्त होता है उसी के आकार में भासित होता है।

द्दष्टा से उपराग होता है तब द्दष्टा के आकार से भासित होता है जब इन्द्रिय के द्वारा द्दश्य से उपरक्त होता है तब सुख-दुःख भोगरूप द्दश्य-रूप से भाषित होता है। जैसे—स्फटिक मणि या दर्पण के पास एक नीला फूल, एक लाल फूल रख दें तो वह स्फटिक मणि या शीशा नीले फूल और लाल फूल के प्रतिबिम्ब से और अपने निजी रूप से तीन रङ्ग वाला मालूम होता है। उसी प्रकार एक ही चित्त विषय और पुरुष के प्रतिबिंब से और अपने रूप से ग्राह्य, ग्रहीता और ग्रहण स्वरूप होकर भासता है। यथार्थ में चित्त भोग्य है और पुरुप भोक्ता उसके भिन्न है, यह पहिले कह आये हैं।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थ—वह चित्त अनेक वासनाओं से चित्रित हुआ दूसरे के लिये है। क्योंकि वह संहत्वकारी (मिलकर काम करने वाला) है।

व्याख्या—संहत्यकारी वह वस्तु होती है जो अनेक पदार्थों से मिल जुलकर कार्य करने योग्य होती है जैसे—मकान, शय्या, भोजन आदि ऐसी वस्तुयें स्वार्थ के लिये नहीं बल्कि पदार्थ के लिये होती हैं। इसी तरह चित्त सत्व, रज, तम गुणों से अङ्ग-अङ्गी भाव के मिश्रण से सत्व प्रधान बना है यह भी संहत्यकारी हुआ तथा बाह्य पदार्थ एवं इन्द्रियों के संयोग से मिलजुलकर कार्य करने की क्षमता है वह स्वार्थ के लिए नहीं है अपने स्वामी द्दष्टा पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिए है। अर्थात् सुखाकर चित्त अपने भोगार्थ नहीं और तत्वाज्ञानाकार चित्त भी चित्त के अपवर्गार्थ नहीं बल्कि दोनों प्रकार का चित्त अपने स्वामी पुरुष के भोग अपवर्गार्थ है। जिस प्रकार घर का स्वामी घर में सभी पदार्थों का भोग करता है परन्तु सब पदार्थों से भिन्न होता है उसी

प्रकार सुख-दुःख रूप भोग अपवर्ग का भोग करने वाला पुरुष सब इन्द्रिय व विषयों से पृथक है।

चित्त आत्मा की भिन्नता कहकर अब आत्मा का विशेष ज्ञान जो समाधि द्वारा होता है एवं विवेक ज्ञान से योगी आत्म स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है तब उसकी स्थिति जो होती है, उसको अगले सूत्र में कहते हैं।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥२५॥

सूत्रार्थ—विशेषदर्शी (चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर लेने वाले) योगी को आत्मभाव की भावना निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या—योगी के मन में जब तक ही संकल्प विकल्प रहते हैं जब तक आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वह सोचता है मैं कौन था, कैसा था, कौन हूं, कैसा हूँ, कैसा होऊँगा आदि आत्म-ज्ञान की भावना रहती है। इसी को आत्म-भावना यानी आत्मज्ञान के विषय का चिन्तन कहते हैं। जब विवेक ज्ञान द्वारा यह जान लेता है कि शरीर और चित्त से आत्मा भिन्न है और संशय रहित अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है तो उस की आत्म भाव भावना मिट जाती है अर्थात् चित्त में ही सारे परिणामों को देखता है तथा उसके धर्मों से पृथक् अपने को अपरिणामी ज्ञान स्वरूप भासने लगता है। जब साधक के चित्त की यह भावना होती है तब ही विवेक ज्ञान प्राप्त होता है।

जब विवेक ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो योगी की यह पहचान है कि उसको मोक्ष मार्ग श्रवण से रोमांच एवं अश्रुपात होते हैं, कभी हँसता है आदि। जैसे—वर्षा ऋतु में घास पात के जम जाने पर उसके बीज का अनुमान होता है उसी प्रकार योगी की स्थिति से जाना जाता है कि इस योगी में विशेष ज्ञान होने से मोक्षोन्मुख बीज पड़ा है जो शुभ

कर्मों से उदय हुआ है। उनको केवल पूर्व पक्ष में रुचि और निर्णय सिद्धान्त में अरुचि हो जाती है, क्योंकि शुद्ध पुरुष स्वरूप का प्रकाश हो जाता है।

विशेषदर्शी का चित्त विशेष दर्शन के उदय पर जैसा होता हैं उसको अगले सूत्र में कहते हैं।

तदा विवेक निम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम ॥२६॥

सूत्रार्थ—उस समय विवेकी चित्त विवेक मार्ग में संचारी होकर कैवल्य की ओर अभिमुख हो जाता है।

व्याख्या—साधक की पूर्व अवस्था यानी "चित्त की अज्ञान अवस्था" में योगी का चित्त अविवेक मार्ग में बहता हुआ संसारी विषयों की ओर बहा जा रहा था, विशेष दर्शन से वह मार्ग रुक जाता है और चित्त का प्रवाह आत्मानात्मरूप विवेक ज्ञान के मार्ग की ओर निम्न होकर कैवल्य प्राग्भार के अभिमुख हो जाता है। सूत्र में प्राग्भार शब्द ऊँचे स्थान का वाची है जिसे बाँध कहते हैं।

विवेक प्रवाही चित्त में व्युत्थान की वृत्तियाँ भी आती रहती हैं सो क्यों? उसको अगले सूत्र में कहते हैं।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

सूत्रार्थ—विवेक भेद होने के क्षणों में व्युत्थान को वृत्तियाँ पूर्व संस्कारों से होती हैं।

व्याख्या—विवेक ज्ञान में निमग्न चित्त को अपनी एवं आत्मा की भिन्नता का ज्ञान पूर्ण रूप से भासित होता है, किन्तु थोड़ी-सी भी शिथिलता आने पर व्युत्थान के संस्कार जो अनादि काल से बीज रूप संस्कार थे वह फिर उत्पन्न होकर व्युत्थान की ममता, अहंता की वृत्तियाँ जैसे यह मेरा है मैं दुःखी हूँ आदि पैदा हो जाती हैं। इन्हीं को प्रत्ययान्तराणि कहते हैं, यह पूर्ण प्रकार से तभी नाश होती है जब विवेक ख्याति

अत्यन्त परिपक्व अवस्था में हो जाती है अर्थात् विवेक ज्ञान में चित्त निमग्न हो जाता है । तब आत्मा स्वरूप एवं अपने रूप को भासता है । ऊँची अवस्था के प्राप्त होने पर वैराग्य की दृढ़ता से असंप्रज्ञात समाधि में चित्त भी लय हो जाता है एवं दग्धबीज स्वयं लय हो जाते हैं । तब कैवल्य अवस्था प्राप्त हो जाती है ।

उन संस्कारों का अभाव कब और कैसे होता है, इसको अगले सूत्र में बताते हैं—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम ॥२८॥

सूत्रार्थ—इन (व्युत्थान के संस्कारों) का हान (नाश) पूर्वोक्त क्लेशों की निवृत्ति, के समान कहा है ।

व्याख्या—साधनपाद के सूत्र १० में कह चुके हैं कि अविद्या से उत्पन्न पाँचों क्लेश क्रिया योग से सूक्ष्म होते हैं । पुनः प्रसंख्यात (विवेक ख्याति) रूप अग्नि से दग्ध बीज के समान हो जाते हैं, फिर अंकुर उत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं ।

इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये अर्थात् विवेक अभ्यास रूप प्रसंख्यान अग्नि से पूर्व जन्म-जमान्तरों के व्युत्थान के संस्कार दग्धबीज होकर अंकुर उत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं । इन संस्कारों का नाश तो चित्त का अपने कारण में लय होने पर होता है परन्तु दग्धबीज के समान वे व्युत्थान की वृत्तियों को उत्पन्न कर सकते हैं । परिपक्व ज्ञाननिष्ट चित्त में इनका प्रादुर्भाव नहीं होता । इसलिये विवेक ज्ञान के अभ्यास से व्युत्थान के संस्कारों का निरोध, फिर निरोध संस्कारों से विवेक संस्कारों का क्षय करना चाहिये । तत्पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा निरोध संस्कारों का लय कर लेना चाहिये, तब आनन्दरूप कैवल्य अवस्था होती है । विवेक ज्ञान से ही अपने को सिद्ध समझकर कृतार्थ नहीं होना चाहिये । निरोधाभ्यासरूप प्रसंख्यान के निरोध का—

जीवन्मुक्त की परमकाष्ठा रूप धर्ममेघ समाधि का अगले सूत्र में वर्णन करते हैं।

प्रसख्यानेऽप्य कुसोदस्य सर्वथा विवेकख्यातेधर्ममेघः समाधिः ॥२६॥

सूत्रार्थ—**प्रसंख्यात ज्ञान में अकुसीद योगी (प्रसंख्यात ज्ञान से विरक्त)** का **विवेक ज्ञान निरंतर प्रकाशमान होने के कारण उसको धर्म मेघ समाधि प्राप्त होती है।**

व्याख्या—विवेक ज्ञान के उदय होने पर योगी क्लेशों के बन्धनों से क्षीण होने पर सर्वज्ञ, सब का अधिष्ठाता, हो जाता है। इस प्रकार सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता और फल की इच्छा भी नहीं करता। फल की इच्छा से रहित योगी को अकुसीद कहते हैं। इस तरह वैराग्यशील योगी का विवेक ज्ञान का निरन्तर प्रवाह बहने लगता है और उसके व्युत्थान के संस्कार के बीज नितान्त भस्म हो जाते हैं। ज्ञान की इस परिपक्व अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात की ऊँची स्थिति को विवेक ख्याति कहते हैं। विवेक ख्याति की परिपक्व अवस्था निरन्तर बहने वाली धर्ममेघ समाधि है। इसकी पराकाष्ठा का नाम 'पर-वैराग्य' है और उसका फल निर्बीज समाधि है।

धर्ममेघ समाधि का फल कहते हैं।

ततः क्लेशकर्मनिवत्ति ॥३०॥

सूत्रार्थ—धर्ममेघ समाधि होने पर क्लेश-कर्म की निवृत्ति होती है।

व्याख्या—जब योगी को धर्म मेघ समाधि सिद्धि हो जाती है तब अविद्या आदि पाँचों क्लेश, कृष्ण, शुक्ल, तथा मिश्रित तीनों तरह के कर्म उनकी वासनायें समूल नष्ट हो जाते हैं। तब योगी जीवन्मुक्त

होता है। शरीर त्यागने पर विदेह पद प्राप्त होता है, क्योंकि कर्माशय ही आवागमन का कारण है। कर्माशय नष्ट होने पर विदेह स्थिति हो जाती है।

क्लेश निवृत्ति होने पर जो स्थिति होती है उसको कहते हैं।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—तब सम्पूर्ण क्लेश कर्म रूप आवरण मल से रहित योगी का ज्ञान अनन्त हो जाता है। अनन्त ज्ञान होने से ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ सब अल्प जान पड़ते हैं।

व्याख्या—जिस प्रकार बादलों में ढका हुआ सूर्य होने पर उसका प्रकाश लुप्तप्रायः हो जाता है, इसी प्रकार सत्व प्रधान चित्त प्रकाशशील होने पर भी रज-तम मूलक अविद्या आदि पंच क्लेश तथा सकाम कर्म की वासनायें पर्दा रूप होकर उसके प्रकाश को प्रकाशित होने में बाधक होती हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश बादलों के हटने पर सब जगह फैलता है और संसार की सभी वस्तुएें दीखने लगती हैं, उसी प्रकार पूर्वोक्त अविद्या आदि क्लेश, सकाम कर्मों की वासनायें जो पर्दा रूप होकर सत्व चित्त के प्रकाशित होने में रुकावट डालती हैं, वे सब धर्म मेघ समाधि सिद्धि होने पर नष्ट हो जाती हैं। चित्त का आवरण नष्ट होने पर उस चित्त को अपरिमित ज्ञान प्राप्त होता है। उसके प्रकाश में जानने योग्य कोई वस्तु अज्ञात नहीं रहती। उस स्थिति में विषय बहुत न्यून और ज्ञान का प्रकाश अनन्त अपरिच्छिन्न होने से ज्ञेय सांसारिक वस्तुएें तुच्छ मालूम होती हैं। योगी को इस स्थिति पर बड़ा आश्चर्य होता है।

धर्ममेघ समाधि सिद्धि होने पर गुण परिणामी होने से उनका परिणाम अवश्यम्भावी है, फिर योगी को वे पुनर्जन्म देने वाले क्यों नहीं होते, इसको अगले सूत्र में कहते हैं।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

सूत्रार्थ—इसके बाद कृतार्थ हुये गुणों के परिणाम की समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या—धर्ममेघ समाधि उदय हो जाने पर योगी के क्लेश कर्मों की निवृत्ति हो जाती है। उस समय रज, तम नष्ट होने से अनन्त ज्ञान उत्पन्न होता है। वही प्रकृति के दोषों को दिखाने वाला होने से 'पर-वैराग्य' रूप है। इस ज्ञान के उत्पन्न होने के बाद गुणों के परिणाम उस पुरुष के लिसे समाप्त हो जाते हैं क्योंकि गुणों का कर्म पुरुष को भोग-अपवर्ग दिलाना है। जब तक यह काम पूरे नहीं हो जाते तब तक अपने परिणाम के क्रम को (शरीर इन्द्रिय आदि के भी आरम्भ) निरंतर करते ही रहते हैं धर्ममेघ समाधि के पश्चात गुणों का कार्य भोग अपवर्ग का अन्त होने पर अपना परिणाम फल समाप्त कर देते हैं। उस पुरुष के लिये गुण प्रवृत्त नहीं होते। तब वे अन्य पुरुषों के भोग-अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध करने में लगे रहते हैं।

क्रम का स्वरूप कहते है।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्त निर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥

सूत्रार्थ—क्षणों का प्रतियोगी तथा परिणाम के अन्त में जिसका स्वरूप जाना जाता है वह क्रम हैं।

व्याख्या—अल्प काल को क्षण कहते हैं। इस तरह क्षणों के निरंतर प्रवाह में एक के बाद दूसरा तीसरा क्षण का क्रम कहलाता है। अर्थात् क्षणों का विभाग करने वाला क्रम है कोई भी वस्तु जब एक रूप से दूसरे रूप में बदलती है या उसी रूप में रहते हुये पुरानी हो जाती है तो उसका परिणाम बदलना एक क्षण, दिन घड़ी में नहीं होता बल्कि प्रतिक्षण परिवर्तन होता जाता है। परन्तु मालूम नहीं होता। उस वस्तु का दूसरा परिणाम देखकर अनुमान किया जा सकता है कि यह

वस्तु एक साथ नहीं बदलती है हर क्षण बदलती रही है। जैसे नया कपड़ा संभाल कर संदूक में रखने पर भी कालान्तर में पुराना जीर्ण हो जाता है, परन्तु यह जीर्णतारूपी परिणाम क्रम एक या दो क्षण या एक दो दिन में नहीं मालूम होता। यद्यपि प्रति क्षण में परिणाम कम हुआ है परन्तु इतने सूक्ष्म रूप से परिणाम कम हो रहा था कि देखने में नहीं आता। अन्त में बहुत से परिणाम कर्मों का स्थूल रूप से होने पर दिखाई देने लगा। इसी तरह गुणों के धर्म परिणाम और लक्षण परिणाम का क्रम है। अवस्था परिणाम क्रम धीरे-धीरे होता है और उसका अन्तिम फल जाना जाता है। जैसे बालक को कुछ समय देखने के बाद युवा पुनः वृद्ध होने से उसके शरीर की वृद्धावस्था मालूम होती है। उससे मालूम होता है कि प्रतिक्षण उसका अवस्था परिणाम क्रम होता रहा है जो अन्त में मालूम होता है। अतः क्रम का ज्ञान अन्त में होने से परिणामापरान्त निर्ग्राह्य कहा गया है। प्रत्येक क्षण से सम्बन्ध होने के कारण क्रम इसीलिये क्षण प्रतियोगी हैं।

अगले सूत्र में कैवल्य का स्वरूप वर्णन कर शास्त्र की समाप्ति करते हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥३४॥

सूत्रार्थ—पुरुषार्थ से शून्य हुये गुणों का अपने कारण में लय होना अथवा चित्त शक्ति का अपने रूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

व्याख्या—गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग अपवर्ग के सम्पादन के लिये है। यही उनका भोग, अपवर्ग पुरुषार्थ है। इनको पूरा करने के लिये वे गुण, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, पंचतन्मात्रा और शब्दादि विषयों में परिणित होते हैं। जिन पुरुष को भोग अपवर्ग दिला

देते हैं उनके लिये फिर कोई काम शेष नहीं रहता। तब पुरुषार्थ के सम्पादन से कृतार्थ हुये प्रतिलोम परिणाम से अपने कारण में लय हो जाते हैं, यही गुणों का कैवल्य है। प्रतिलोम परिणाम से यह तात्पर्य है कि व्युत्थान समाधि एवं निरोध के संस्कार मन में लय हो जाते हैं मन अहंकार में, अहंकार बुद्धि में, बुद्धि प्रधान प्रकृति में लय हो जाती है। इसी को कैवल्य कहते हैं। अथवा चित्त शक्ति दृष्टा पुरुष का अनादि अविद्या कृत संयोग का अभाव हो जाने पर अपने शुद्ध असंग कूटस्थ निरावरण आनन्द स्वरूप अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाना पुरुष का कैवल्य है।

जीव ईश्वर की अनुकम्पा से शुद्ध रूप होकर आनन्दस्वरूप ईश्वर में प्राप्त होता है, इसीलिये ईश्वर प्रणिधान का योग-शास्त्र में विधान है।

।। इति पातञ्जल योग-दर्शन कैवल्यपाद समाप्त ।।

।। पातञ्जल योग-दर्शन समाप्त ।।

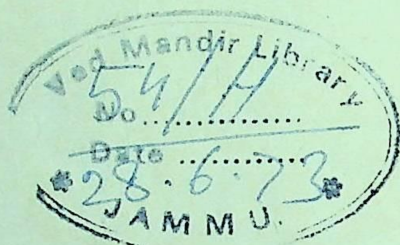
भारतीय संस्कृति के गौरवशाली धर्म-ग्रन्थ

(हिन्दी अनुवाद सहित)

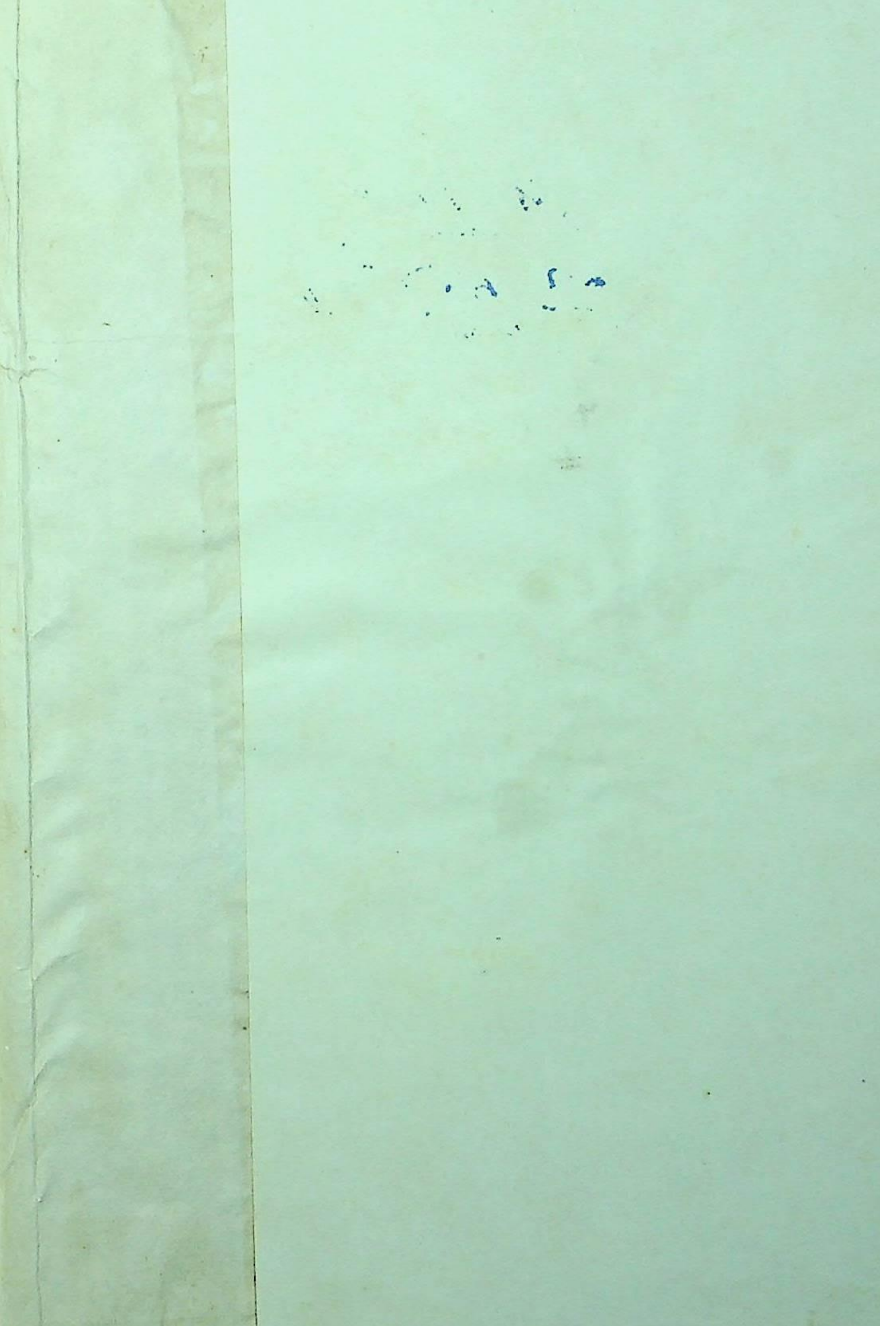
१. चारों वेद ८ जिल्दों में ...
   ऋग्वेद ४ खण्ड २७)
   अर्थव वेद २ खण्ड १३)५०
   यजुर्वेद १ खण्ड ६)७५
   सामवेद १ खण्ड ६)७५
२. १०८ उपनिषदें (३ खण्डों में)
   ज्ञान खण्ड ७)७५
   ब्रह्म-विद्या खण्ड ७)७५
   साधन खण्ड ७)७५
३. षट् दर्शन (६ जिल्दों में)
   वेदान्त दर्शन ४)
   सांख्य दर्शन ४)
   योग दर्शन ४)
   वैशेषिक दर्शन ४)
   न्याय दर्शन ४)
   मीमांसा दर्शन ५)
४. २० स्मृतियाँ २ खण्ड १४)
५. शिव पुराण २ खण्ड, १५)
   वायु पुराण २ खण्ड १४) विष्णु पुराण २ खण्ड १४)
   अग्नि पुराण २ खण्ड १४) मार्कण्डेय पुराण २ खण्ड १४)
   गरुड़ पुराण २ खण्ड १४) हरिवंश पुराण २ खण्ड १४)
   देवी भागवत पुराण २ खण्ड १५) भविष्य पुराण २ खण्ड १४)
   पद्म पुराण २ खण्ड १४) लिंग पुराण २ खण्ड १४)
   वायु पुराण २ खण्ड १५) कूर्म पुराण २ खण्ड १५)
   मत्स्य पुराण २ खण्ड १५) ब्रह्मपर्वत पुराण २ खण्ड १५)
   स्कन्द पुराण २ खण्ड १५) कल्कि पुराण ७)७५
६. विष्णु रहस्य ६)
७. तंत्र महाविज्ञान २ खण्ड १५)

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान ख्वाजाकुतुब बरेली (उ० प्र०)



Ved Mandir Library
No. 54/H
Date 28.6.73
JAMMU.



गोपाल प्रिंटिंग प्रेस, बरेली।